हिन्दुस्तानी संस्कृति

(हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता की कहानी)

जंग बहादुर सिंह

हिन्दुस्तानी संस्कृति

(हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता की कहानी)

लेखक :

जंग बहादुर सिंह

(रचयिता : पतितोद्धार, बारदोली-विजय आदि ;
सम्पादक, " ट्रिब्यून," लाहौर)

प्रकाशक :

न्यू बुक सोसाइटी,

पोस्ट बक्स नं० ४६, लाहौर

[मूल्य १ /

प्रकाशक—

मि० एन० बी० सेन
मालिक : न्यू बुक सोसाइटी
पोस्ट बक्स नं० ४६, लाहौर।

मुद्रक :
अमृत इलेक्ट्रिक प्रैस, रेलवे रोड,
लाहौर, में
पं० धर्म चन्द भार्गव बी० एस-सी,
के प्रबन्ध से छपी।

प्रारम्भ के दो शब्द

इस पुस्तक को भूमिका की आवश्यकता नहीं है। यह स्वयं हिन्दुस्तानी सांस्कृतिक जीवन के इतिहास की भूमिका है– और वह भी अधूरी। पर इसमें हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता की, जिसको धार्मिक विचार-भाव-भेद कदापि मिटा नहीं सकते, अच्छी-ख़ासी झलक देखने को मिलती है। हमारे रूप-रंग, हाव-भाव, रहन-सहन, साहित्य और कला में हमारी एकामयी के अगणित प्रमाण पाए जाते हैं। उनमें से कुछ प्रमाणों का मैंने इस पुस्तक में उल्लेख किया है। वास्तव में यह पुस्तक संग्रह है कतिपय पत्रकों का, जो मैंने "पंजाब मित्रता आन्दोलन" के लिए उसके प्रान्तीय मंत्री, उसके प्राण, मौलवी इब्राहीम अली चिश्ती की प्रेरणा से लिखे थे। मौलवी साहब ने मुझे, उन पत्रकों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की आज्ञा देकर, अत्यंत अनुगृहीत किया है।

लाहौर,
सितम्बर, १६४६

जंग बहादुर सिंह,
सम्पादक, "ट्रिब्यून"

विषय-सूची



काया-माया

एक बड़ी तरङ्ग, एक छोटी, फिर एक बड़ी तरङ्ग—इसी तरह हिन्दुस्तान की धरती सिंचती रही है। कमाल की है इस देश की भूमि, इसमें कभी कीचड़ नहीं हुआ। इसने सदा विदेश से आई हुई संस्कृति और सभ्यता का रस पी लिया और उससे उर्वरा हो कर, एक ऐसे अनोखे विचार-पुञ्ज और भाव-कुञ्ज को जन्म दिया, जो हमारे जीवन के ऐसे गहने हैं, जो जगत को चकित कर देते हैं। जैसे आर्य यहां आकर, यहां की काया-माया वाले हो गए, वैसे ही, उनके आगमन के सैकड़ों शताब्दियों पश्चात् आने-वाले, पठान और मुग़ल भी यहाँ की काया-माया-वाले बन गए। हमारी संस्कृति इन सब की काया-माया का संमिश्रण है। पठानों के उन्नत ललाट, कठोर मुखाकृति, और बलिष्ठ अङ्ग, साथ ही मुग़लों के उभरे गाल, नुकीली नाक और गठे जिस्म ने अपने प्रतिबिम्ब जगह-जगह अङ्कित कर दिए।

यह ठीक है कि पठान और मुग़ल हिन्दुस्तान में बहुत बड़ी संख्या में नहीं आए। पर जितने भी आए, और आकर यहाँ बसे, वह अपना रङ्ग जमाने, और दूसरों पर थोड़ा-बहुत रङ्ग चढ़ाने के लिए पर्याप्त थे। यदि वर्ण-व्यवस्था का बाँध आर्य जीवन-धारा को द्रविड़ जीवन-धारा के साथ समागम करने से नहीं रोक पाया और जाति-पाँति की दीवार को फाँद कर, यदि हिन्दुत्व और इस्लाम ने एक दूसरे पर प्रभाव डाला, तो क्या कोई अचम्भे की बात हो गई। यह तो ऐसी लुकी-छिपी मिलन की कहानी है, जिसकी महीन से महीन गिरह का पता सामाजिक इतिहास के विद्वानों को ही है। पर एक मोटी बात है, जो सभी जानते हैं। जो करोड़ों हिन्दू मुसलमान हो गए, वह एक ऐसी संस्कृति और सभ्यता की उत्पत्ति के कारण बन गए, जो हिन्दुस्तानी इस्लाम है और जो अन्य देशों के इस्लाम से सीरत में न सही, पर सूरत में और लिबास में अवश्य भिन्न है। इस्लाम ने यदि अपने घेरे में, इन करोड़ों हिन्दुओं का स्वागत करते हुए, उन्हें अपनी आत्मा दी, तो उन्होंने कृतज्ञता प्रकट करते हुए, उसे अपना जामा पहना दिया। इस्लाम का प्रसार धीरे-धीरे हिन्दुस्तान के कोने-कोने में हो गया। कहीं थोड़ा, कहीं बहुत। पर इसका कोने-कोने की बोल-चाल, लेन-देन और रस्मोरिवाज की विशेषताओं पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। वह प्रायः ज्यों की त्यों बनी रही।

चलिए उत्तर-पश्चिमी सरहद से और चले जाइए उत्तर-पूर्वी सरहद तक। इसी तरह चलिए काश्मीर से और चले जाइए कन्या-कुमारी तक। आप देखेंगे, कि धर्म की रेखा के

साथ रूप और रहन की रेखा नहीं चलती है; वह तो प्रान्त की रेखा के साथ चलती है। और आपको विदित होगा, कि धर्म की ध्वनि के साथ बोली की ध्वनि नहीं मिलती है; वह तो प्रान्त की ध्वनि के साथ मिलती है। अनेक प्रथाएँ भी प्रान्तिक हैं, धार्मिक नहीं। इस प्रकार धर्मों के बन्धनों को प्रान्त तोड़ते हैं। संयुक्त प्रान्त के किसी मुसाफ़िरख़ाने में, यदि कभी ९९ कनौजिया ब्राह्मण एकत्रित होंगे, तो वहाँ १०० चूल्हे बनेंगे। ज़मीन पर कोयले से खींची हुई ४०० चिघाटें होंगी। और इन रसोइयों की हद्द पार करने का यदि कोई पाप कर बैठे तो चैले चल जाएँगे। पर पञ्जाब के स्टेशनों पर पञ्जाबी ब्राह्मण निस्संकोच कच्चा भोजन, अर्थात् रोटी-दाल, छक लेंगे और उनके धर्म को तनिक भी क्षति न पहुँचेगी। बल्कि जिस बेंच पर, कुछ समय पहले अछूत विराजमान थे, उसी बेंच पर ब्राह्मण देवता विराजमान होंगे। दक्खिनी भारत में उनके भाई-बन्धु, जिनकी नसों में इतना शुद्ध आर्य रक्त नहीं है, जितना कि इनकी नसों में है, अछूतों की छाया से ऐसे भागेंगे, मानों वह मौत की निशानी है। यह प्रान्तीय विभिन्नता है। और यह विभिन्नता इस बात का प्रमाण है, कि कई क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें संस्कृति और सभ्यता, इतनी धर्म से प्रभावित नहीं होतीं, जितनी कि देश और काल से होती हैं।

पञ्जाब हिन्दुस्तान का वह भाग है, जहाँ पर हर रङ्ग-ढङ्ग के आक्रमणकारी आकर पहले बसे, और जहाँ जीवन की हर प्रकार के मेवोंवाली गाढ़ी और मीठी खीर बनी। यहाँ उदारता ऐसी पैर पसार कर पड़ी, कि उसने संकीर्णता के लिए बस सिकुड़ कर पड़े रहने भर की जगह छोड़ी। हिन्दू

कट्टरता को ही नहीं, मुस्लिम कट्टरता को भी, उसने लुभाया, रिझाया और बड़ा नर्म बनाया। बुर्क़ा अब भी पञ्जाब में चलता है। पर साथ ही हीर-रांझा का क़िस्सा भी बड़े चटखारे से सुनाया जाता है और बड़े चाव से सुना जाता है। पञ्जाबी अल्हड़पन और पञ्जाबी मस्ती में हिन्दुत्व और इस्लाम डूब कर दोस्त बन जाते हैं। इसको मैं प्रान्तीयता की विजय कहता हूँ। यही प्रान्तीयता की विजय हमारे हिन्दुस्तानीपन की विजय है। निडरता, साहस और पराक्रम यदि पेशावर, अमृतसर और लाहौर के गुण हैं, तो नज़ाक़त, लताफ़त और सरलता लखनऊ, दिल्ली और पटना की सिफ़्तें हैं। इसमें हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख का प्रश्न नहीं है। सरहद्दी और पंजाबी सभ्यता कड़क कर बोलती है। मुग़ल और नवाबी सभ्यता लोच से बोलती है। यह सभ्यताएँ, चाहे किसी धर्मावलम्बी के मुंह से प्रगट हों, अपनापन नहीं त्यागतीं। ऐसे तो पंजाब में भी मीठे सम्बोधन होते हैं। लेकिन लखनऊ ऐसे यू० पी० के शहरों में तो नाज़ुक-ख़्याली और नाज़ुक-बयानी इस हद तक पहुंची हुई है, कि फेरीवाला ककड़ियाँ बेचता है, तो यह कहता है, कि ले लो लैला की उङ्गलियां और मजनू की पसलियां। फेरीवाला अक्सर हिन्दू होता है। हिन्दुओं के साहित्य में मजनू और लैला का भजन नहीं है। पर चुटियावाला फलफ़रोश मजनू और लैला का गुणगान तन्मय होकर करता है, मानों वह उसके इष्टदेव हैं। प्रान्तीयता का यही तो अनोखापन है, कि वह विभिन्न साहित्य और कला का प्रयोग लोगों को अभिन्न बनाने के लिए करता है। बङ्गाली जीवन बङ्गाली ही है। उसका अपना अलग रस और

अलग रङ्ग है। बङ्गाली जीवन की तुलना आप यदि मद्रासी जीवन से करें, तो आपको ऐसा लगेगा, कि एक चित्र किसी का बनाया हुआ है, और दूसरा किसी और का। रेखाएँ भी भिन्न हैं और रङ्ग भी भिन्न—यद्यपि बङ्गाल में भी हिन्दू और मुसलमान हैं और मद्रास में भी हिन्दू और मुसलमान हैं। एक में भावुकता प्रधान है, दूसरे में वास्तविकता। देश के लिए दोनों अनमोल आभूषण हैं।

पठानी काठी, चाहे वह हिन्दू की हो चाहे मुसलमान की हो, ठोस और मज़बूत होती है। पठानी रङ्ग में धर्म के भेदभाव से कोई अन्तर नहीं होता, वह जैसा होता है, होता है। पठानों की शारीरिक काट-छांट से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। शरई दाढ़ी और मूँछ से विभिन्नता का आभास जरूर होता है। पर अधिक संख्या में मुसलमान-पठान ऐसे हैं, जो कतरी मूँछ और फहरउआ दाढ़ी से अपने मुख-मण्डल को नहीं सजाते। और कुछ शौकीन हिन्दू पठान ऐसे हैं, जो इनसे मिलती-जुलती मूँछ और दाढ़ी फटकारते घूमते हैं। मनुष्यों के प्रान्तीय संगठन में धर्म की रेखाओं को प्रान्त के जल वायु धोकर और घिस कर हलका कर देते हैं और उसपर अपने गहरे चिन्ह अङ्कित कर देते हैं। यह प्रान्तीय एकता इस बात का, कि धर्म हम को विभाजित करता है, घोर खण्डन है। पंजाब में पंजाबीपन और सब पनों पर हावी है। हिन्दू और मुसलमान पगड़ियां एक ही ढङ्ग से बांधते हैं और उनके तुर्रे एक ही शान से फहराते हैं। उनकी क़मीज़ों का एक ही सा चुस्त कट होता है, और उनकी सलवारों का एक ही सा लहराता घेरा होता है। सिक्खों के पहराव में और उनके पहरावे में कोई ख़ास

फ़र्क़ नहीं है। शरीर सबके पंजाबी क़िस्म के बड़े और बलिष्ठ होते है। उनका रङ्ग, काश्मीरियों को छोड़ कर, और सब सूबों के लोगों से ज़्यादा निखरा हुआ होता है। अधिक शुद्ध आर्य मार्के की .खूबसूरती तो काश्मीर में ही पाई जाती है। पर पंजाब में भी उसकै बहुत से बढ़िया नमूने मिल जाते हैं। छबि-घर में दीप-शिखा-सी जगमगानेवाली, सुन्दरता को सुन्दर करने वाली, पंजाबी कामनी ऐसे इतिहास की गढ़ी हुई मूर्ति है, जो न जाने कितनी सदियों से पञ्चनद के विस्तृत मैदान में आक्रमण की लहरों के साथ आई हुई मानवी सामग्री का अनेक ढङ्ग से प्रयोग कर रहा है। आर्य, हूण, पठान और मुग़ल क़िस्म के मुंह, नाक, आंख और कान के सांचे कारीगर समय ने मिलाए-जुलाए और अलग-अलग धमनियों में बहने वाली रक्तधाराएं भी उसने एक कर दीं। ऐसा करने में उसने धर्म के बन्धन को स्वीकार नहीं किया। इस प्रयोग का परिणाम यह हुआ, कि उसी प्रकार के सौंदर्य सभी धार्मिक समूहों में पाए जाते हैं। ऐसी मुसल्मान लड़कियां हैं, जिनके चेहरे-मुहरे में आर्य-छवि की छटा लहराती है—काश्मीर में तो इनकी संख्या का ठीक-ठिकाना नहीं, क्योंकि धर्म-परिवर्तन के साथ कायाकल्प तो नहीं हो जाता है। और ऐसी हिन्दू और सिक्ख ललनाएं हैं, जिनके रूप-दर्पण में मुस्लिम हुस्न के शमा की चमकती लकीर दिखाई देती है। भिन्न-भिन्न जातियों के जीवन-नदियों के संगम भिन्न-भिन्न धर्मों के विचारधाराओं के संगम नहीं हैं। पर यह दोनों ही संगम हमारी हिन्दोस्तानी एकता के प्रमाण हैं।

जब हम पांचों दरियाओं को पार करके, संयुक्तप्रान्त में पहुंचते हैं, तो चाहे हम हिन्दुओं की बस्ती में जाएं, चाहे मुसलमानों की बस्ती में, वहां न तुर्रे हवा में मस्ती से झूमते हुए नज़र आते हैं, न सलवारें खुशी से फूली दिखाई देती हैं। वहां के बाशिन्दे, पंजाबियों को तरह, लम्बे-तगड़े नहीं हैं, और और न वहां का रहन-सहन, पंजाब के रहन-सहन की तरह खुला और स्वतन्त्र है। आर्यों ने उसे अपना केन्द्र तो अवश्य बनाया था, पर अनेक संस्कृतियों और सभ्यताओं में वहां संघर्ष के साथ सम्मेलन भी खूब हुआ। यदि वहां अयोध्या में श्री रामचन्द्र जी अपने पद-चिन्ह छोड़ गए हैं, जो आज तक चमक रहे हैं, तो वहां वृन्दावन में श्री कृष्णचन्द्र अपनी मधुर स्मृति छोड़ गए हैं, जो आज भी भक्तों को नचा और गवा देती है। वहीं लखनऊ में नवाब अपनी नवाबी छोड़ गए हैं, जो झिलमिल शेरवानी, हवा-सी कढ़ी-हुई दुपलिया टोपी, खिलते-ही-तोड़ी-हुई चमेली और बेला की माला बन कर सामने दिखाई देती है। कोई नवाब साहब, हाथी पर चढ़ कर, सैर करने जा रहे थे। हाथी के पैर के नीचे मूली का पत्ता आ गया तो नवाब साहब को .ज़ुकाम हो गया। नज़ाकत का .ज़ुकाम सभी लखनऊ वालों को होता है—यह नहीं कि मुसलमानों को हो और हिन्दुओं को न हो। चुटिया के ऊपर दुपलिया टोपी होती है, और शेरवानी के नीचे जनेऊ होता है—मुँह से मुसलमानी तकल्लुफ़ के फूल झड़ते हैं!

इसी तरह जो मुसलमान उन इलाकों में बसते हैं, जहां सीताराम-और-राधेकृष्ण संस्कृति का ज़ोर है, वह उसके

प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। गांव में तो पहरावे की ख़ासी समानता के साथ-साथ व्यवहार की भी ख़ासी समानता चलती है। जहां दुआ, बन्दगी और सलाम हैं, वहीं राधेश्याम और सीताराम हैं। जैसे यू० पी० के हिन्दू और मुसलमानों में देखने से कोई विशेष भेद नहीं दिखाई देता, वैसे ही बङ्गाल के हिन्दू और मुसलमानों में केवल दृष्टि की सहायता से भेद देख लेना कठिन है। बंगाल में हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही जनसमूह से सम्बन्ध रखते हैं—ऐसे जनसमूह से जिसकी धमनियों में प्रायः एक ही प्रकार का रक्त बहता है। सब की बनावट मिलती-जुलती, सब का उच्चारण मिलता-जुलता। यदि बनावट रसगुल्ला तो उच्चारण रोसगुल्ला। हिन्दू, मुसलमान दोनों ही अपने गोल मुंह के अनुसार गोल ओंठ बना कर शब्दों का उच्चारण करते हैं। वैसे ही मद्रासी हिन्दू और मुसलमान अपनी एक-सी मुखाकृति लिए, एक-सा निनाद करते हैं। कैसे मज़े में प्रान्तीयता धर्मों का गठ-बन्धन करती है और हमारी एकता की घोषणा करती है!

———

रूप-रेखा और आनबान

हमारे नयन-नक़्श, भाव भंगी, वज़ा-क़ता, रूप-रेखा, आनबान पर हिन्दुत्व या इस्लाम की इतनी गहरी छाप नहीं होती है, जितनी कि प्रान्तीयता की। इसीलिए, यदि हम सिर्फ़ चेहरा-मुहरा देखकर, अपने मुल्कवालों की विभिन्नता की बात करते हैं तो हमारी उंगली धर्मों के बजाय सूबों की ओर उठनी चाहिए। और इस विभिन्नता में भी तो एक ऐसी एकता है, जिसे हम चाहे इस देश में, अपने देशवासियों की मुखाकृति में, निकट से न देख पाएं, पर दूसरे देश में दूर से ही देख लेते हैं। मानों उनके माथे पर चमकदार, सुनहरे हरफ़ों में लिखा है, "हिन्दुस्तानी"। सात समुद्र पार आत्मीयता जागती ही नहीं है, खूब खेलती-कूदती है। वहां न मज़हब की भिन्न-भिन्न होती है, न सूबे की भिन्न-भिन्न। सारे भेद-भाव मिटकर एकता प्रगट करते हैं। वहां तो मुसलमान और हिन्दू की दांत-काटे की रोटी होती है। वहां तो मदरासी

और पंजाबी की राम और लक्ष्मण की-सी जोड़ी बनती है।

केवल यह बात नहीं है, कि योरुप में इंजील का प्रसार देखकर, कुरान और वेद पास-पास आजाते हैं। न केवल यही बात है, कि लन्दन में बैठे हुए हिन्दुस्तानियों को, यह ख्याल करके, कि दिल्ली दूरस्त, यह ख्याल आता है, कि मदरास और लाहौर एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। वहाँ धर्म और प्रान्तीयता का दबाव बिल्कुल नहीं रहता। बस दबा हुआ हिन्दुस्तानीपन एक दम उमड़ आता है और वह छटा दिखलाता है, जिसके लिए हम अपने देश में तरसते हैं। यहाँ हम लेखों में, वक्तव्यों में, कविताओं में, गानों में टर्की और अरब के मुसलमानों, या चीन और जापान के बौद्धों के साथ भले ही नाता जोड़ लें, पर वहाँ हम, इनकी टोलियों के निकट होने पर भी, इनसे दूर रहते हैं। जिनका शरीर हिन्दुस्तान के वायु, आग, पानी और मिट्टी से बना है, उनको आकर्षित करने के लिए, हिन्दुस्तानी इस्लाम और हिन्दुस्तानी बौद्धमत चाहिए। अपने देश से उड़ कर विदेश में पहुँचे हुए, हिन्दुस्तानी तोता और मैना बराबर यह अनुभव करते हैं कि वह एक हैं। वह एक ही जगह अक्सर एकत्रित होते हैं, और एकता के मीठे बैन बोलते हैं। लम्बी उड़ान भर कर वह सब कहाँ से आये हैं? लम्बी उड़ान भर कर वह सब वापस कहाँ जायँगे? इन प्रश्नों का जो उत्तर है, वही उनके एक-रङ्ग और-एक-रस जीवन का रहस्य है।

हिमालय, शिवालिक, पूर्वी घाट, पश्चिमी घाट सारे हिन्दुस्तानियों के मौर-मुकट हैं। इसी प्रकार सिन्ध, जेहलम, रावी व्यास, गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, कृष्णा सारे

हिन्दुस्तानियों की मोती-मालाएँ हैं। ऊंचे-ऊंचे पर्वतों की गोद में खेल कर, और लम्बी लम्बी नदियों की बाहों से लिपट कर, जो कला, कौशल और साहित्य फूला-फला है, वह हिन्दू क्या, मुसलमान क्या, सारे हिन्दुस्तानियों का साझी का ख़ज़ाना है। जिस उत्साह और गर्व से विलायत में हिन्दू ताजमहल का ज़िक्र करते हैं, उसी उत्साह और गर्व से मुसलमान वहाँ अजंता गुफ़ा के चित्रों की चर्चा करते हैं। यदि ताज ऐसा है, मानों चाँदनी संगमरमर बन कर रह गई है, तो अजंता ऐसा है, मानों इन्द्रधनुष पत्थर बन कर रह गया है। ऐसे अमिट सौन्दर्य से, जिस हिन्दुस्तानी संस्कृति का जन्म हुआ है, उसकी अमरता का गान जग में गूँज रहा है। उसे न हमारी मूर्खता मिटा सकती है, न कुटिलता। वह जब तक है, तब तक हमारी एकता है। अर्थात् जब तक पृथ्वी पर चाँदनी छिटकती है और आकाश में इन्द्रधनुष उदय होता है, तब तक हिन्दुस्तानी जीवन एक है और अमिट है।

न जाने कितनी सदियों की सीढ़ियाँ चढ़कर, हमारी पीढ़ियाँ इतिहास के आजकल के महान मचान पर पहुँची हैं। और उस मचान के अलग-अलग भाग में बिखर कर, सुन्दर झाँकी-सी बन गई हैं। यदि हम खैबरदर्रा-किताब के उस छोर से इस छोर तक फैले हुए पहाड़ी-पन्नों पर, पत्थर की लकीरों में अंकित, अपने पुरखों के आगमन की कहानी पढ़ें, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि हम सब विदेशी हैं। जिसको लोग भारत माता या "मादरे हिन्द" कहते हैं, उसके सुपुत्र या फरज़न्द तो अधिकांश शूद्र, अछूत, दस्यु या जङ्गली कहला कर नरक भोग रहे हैं। और हम, आर्यों से लेकर पारसियों

तक, जो बाहर से आए हैं और जो इसके केवल गोद-लिए लड़के हैं, इसके अपने होने का दावा करके, इसकी छाती पर, साधारण दाल नहीं, लोहे के चने दल रहे हैं। मैं राई के बराबर बात को, पर्वत के बराबर बनाकर, पेश नहीं कर रहा हूँ। हिन्दुस्तान की गोद में बैठ कर, दिन-रात चीं-चीं लगाए रखना, एक दूसरे को उठते-बैठते खाते-पीते टोकना, भेद-भाव की निरन्तर चर्चा करना, फिर एक दूसरे से यह कहना कि जहाँ से आए हैं वहीं चले जाइए, उसको पीड़ित करना नहीं है, तो और क्या है?

यदि वापस जाने की बात चलाई जाए तो कोल, भील, संथाल ऐसे बर्बर जनसमूह को छोड़ कर—यही यहां के आदि निवासी हैं—सब को बिस्तर गोल करना पड़ेगा। यह तो इतिहास को चकरघिन्नी बनाने का प्रस्ताव है। हमारी पगली राजनीति चकरघिन्नी बन सकती है। इतिहास अपने मन का मालिक है, जिस तरफ़ जा रहा है उसी तरफ़ जायगा। हिंन्दुस्तान में जो लोग अनगिनत शताब्दियों से बसे हुए हैं, वे कहीं से आये हुए हों, हिन्दुस्तान के हो गए हैं। अगर वह जहां से आए हैं, लौट कर जाएं, तो यही कहेंगे कि "हाय कहां आगए"। न वह किसी को पहचानेंगे न उनको कोई पहचानेगा। हर शक्ल अजीब, हर चीज़ अजीब। एशिया के उन हिस्सों में, जहां से आये हुए मंगोल, मुग़लादि हिदुस्तान में आए थे, अब और ही तरह के नखशिख वाले लोग बसते हैं। उनके और उनके पूर्वजों के स्वरुप, गुण, कर्म और स्वभाव में समानता को, चीज़ों की तह तक जाने वाली तेज़ नज़र वाले परीक्षक ही देख सकते हैं। हिन्दुस्तान में ऐसी जातियों, संस्कृतियों और

सभ्यताओं का सम्पर्क, मिलन और मथन हुआ है, कि उनमें से किसी एक को अलग करके, उसको मध्य एशिया के फ्रेम में फ़िट करना नाकामयाबी को ऐसी प्यारी दावत देना है, कि वह "नहीं" न कर सके। हमारा रूहानी तौर-तरीक़ा, हमारा ख़ज़ाना है और हमारी रूहानी ऊंचाई हमारी अपनी थाती है। उस पर अजीबो-ग़रीब हिन्दुस्तानी मुहर लगी है। हमें उस पर बड़ा गर्व होना चाहिए। ऐसे भी तो, जो सुख हिन्दुस्तानी चौबारे में है, न बलख़ में है न बुख़ारे में है। हां, चौबारे में मेल-मिलाप और शान्ति अवश्य चाहिए।

भूतकाल में, कल्पना की दृष्टि को बहुत पीछे दौड़ा कर, आप को ख़ैबर के पथरीले मार्ग से होते हुए, स्वर्ग की खोज में, आर्यों का क़ाफ़िला हिन्दोस्तान में प्रवेश करते हुए दिखाई देगा। सांचे में ढले हुए, किसी प्रसन्नता के अवसर पर ब्रह्मा के हाथ के गढ़े हुए सुन्दर शरीर—गोरा रङ्ग (दूध-सा या चांदनी सा), मोटी, निर्मल आंखें (कमल-सी, या मछली सी, या आम के फांक-सी, या हिरणी अथवा खंजन के नयनों-सी), लम्बी, तीखी नाक (शुक के नाक-सी), पतले लाल ओंठ (बिम्बा फल-से या पुष्पों की पंखुड़ियों-से), अनिन्दनीय मुखमण्डल—कैसा प्रभावशाली दृश्य है! आर्य, लहर की तरह, लहराते हुए आए और फैल गए। पंजाब पहिले पड़ा, यहां का जल वायु भी अच्छा था, इसलिए पंजाब में यह खूब बस गए। काश्मीर का आकर्षण और भी अधिक था। यदि रास्ता बीहड़ न होता, तो वहां यह छा जाते। गए तो फिर भी। पर गंगा और जमुना को इन्होंने अपना झूला बनाया।

पेंग तो इन्होंने ऐसी लम्बी ली कि बंगाल की खाड़ी तक पहुंच गए। पर घने बसे देश के उस भाग में, जो आजकल संयुक्त-प्रान्त कहलाता है। ऐसे भी चंचल, मनचले आर्य थे जिनका जी उत्तर में रह कर नहीं भरा। वह, अपने साथ नए भावों और नए विचारों की गठरी लिए, भारत के बीचो बीच से होते हुए, द्राविड़ देश के हृदय में समा गए।

यद्यपि आज भी उत्तरी हिन्दुस्तान और दक्खिनी हिन्दुस्तान में कई दृष्टिकोण से बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है, पर कई अंशों में दोनों के जीवन में एक रस और एक रङ्ग पाया जाता है। इस चमत्कार की नींव आर्यकाल में ही पड़ गई थी। आर्यों ने, सारे देश में फैल कर, अपने प्रभाव से वहां के जीवन को मांजा और उस पर मुलम्मा किया। पर साथ ही वहां सनातन जीवन ने अपने प्रभाव से उनमें भी एक प्रकार का परिवर्तन पैदा कर दिया।

भाषा

यदि पाण्डवों ने दिल्ली की नींव डाली, तो मुग़लों ने उसे आसमान से बातें करने वाला बनाया। दिल्ली आज हिन्दुस्तान का दिल है। उसमें पाण्डव-रक्त भी है और मुग़ल-रक्त भी। हिन्दुस्तानी जीवन का कौन सा ऐसा अंग और अंश है, जो सम्मेलन और संमिश्रण का प्रमाण नहीं है ? नाम, धाम काम सब में मेल मिलाप के सिद्धान्त की झलक दिखाई देती है। संस्कृत, अरबी फ़ारसी, जैसे जड़ पदार्थ, वैसे ही चेतन पदार्थ, वैसे ही आवभाव के नामकरण संस्कार में सम्मिलित होते हैं। शेरसिंह, पुलाव-पकवान, दुख-दर्द है न इन शब्दों में उनका साथ ? ऐसे साथ की प्रथा .गुलाम और ख़िलजी वंश के शासकों के ज़माने से चली आ रही है। वह अपने को श्री बादशाह कहा करते थे। मनुष्य हिन्दू, नाम मुसलमानी, मनुष्य मुसलमान, नाम हिन्दू, ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है। सरहद्दी सूबे में वज़ीरखां नाम के हिन्दू मिलते हैं, तो बंगाल में भोला नाम

के मुसलमान मिल जाते हैं। मुसलमानों की संस्कृति की नस-नस को पहचानने वाले और उसकी बढ़िया व्याख्या करने वाले कितने ही हिन्दू विद्वान हैं। प्रान्तीय भाषाएं जैसे धर्म-धर्मान्तर और मतमतान्तर के घुलने-मिलने में सहायक हैं, उसी तरह उनके समझाने में भी सहायक हैं। प्रान्तीय भाषाओं में, जिनको हिन्दू और मुसलमान सभी, बिना मीन-मेख निकाले, बिना चूं-चरा किए, बोलते हैं, जहां संस्कृत की बदली-हुई धारा बहती है, वहां अरबी और फ़ारसी, तट के वृक्षों से गिरे हुए फूल-पत्तों की तरह, उतराते है। उत्तरी हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में तो यह फूल-पत्ते इतनी बहुतायत से होते हैं, कि इनके नीचे धारा छिप जाती है।

कहते हैं, पाणिनि के युग के बीतने पर, संस्कृत के जोबन का उभार बन्द हो गया और वह जनता की इतनी प्यारी नहीं रही, जितनी पहले थी। जिस समय गौतम बुद्ध और उनके चेलों ने एक नया आदर्श लोगों के सामने रखा, उस समय उन्हें पाली और प्राकृत का सहारा लेना पड़ा, जो इस देश के चारों दिशाओं में फैली हुई थी। बौद्ध युग की समाप्ति के साथ प्रान्तीय भाषाओं का जन्म होने लगा। पर प्रान्तीय भाषाओं के उत्पत्तिकाल में भी एक ऐसी भाषा थी—चन्द वरदाई का पृथ्वीराज-रासो पढ़िए—जो दूर-दूर तक बोली और समझी जाती थी। महाराष्ट्र में तुकाराम ने, बङ्गाल में चैतन्य ने, मिथिला में विद्यापति ने, लोगों को अपने-अपने सन्देश इस भाषा में सुनाए। पठानों और मुग़लों के आगमन से और उनके लम्बे शासन से जहां प्रान्तीय भाषाओं का अरबी और फ़ारसी—विशेष कर फ़ारसी—के प्रभाव के कारण

रूप, रङ्ग और ढङ्ग बदला, वहां एक ऐसी भाषा का जन्म हुआ जो चन्द बरदाई की भाषा से भिन्न थी। पर इसमें भी विकृत संस्कृत शब्दों की भरमार थी। हिन्दू लेखकों और कवियों को जाने दीजिए, .खुसरो, रहीम, रसखान आदि, लगभग ३०० मुसलमान लेखकों और कवियों ने इस नवीन भाषा में लेख लिखे और कविताएं कीं—इसे माध्यम बनाकर हमारे साहित्य के कोष में उन्होंने ऐसे सर्वप्रिय रत्न डाल दिये, जिन्हें लूटने में हम एक हो जाते हैं।

वह भाषा बढ़ी, उसने इधर-उधर से और शक्ति छीनी, और सौंदर्य लिया। सदियों के विकास के बाद—सरल और स्वभाविक विकास के बाद—जो भाषा आज हमारे सामने मौजूद है, वही सब की भाषा है। भाषा हमारे दिलोदिमाग़ से निकल कर, देश और काल से प्रभावित होकर, फूलती-फलती है। और फिर फूल-फल कर हमारे दिलोदिमाग़ के भावों और विचारों के प्रकाशन का साधन बन जाती है। जिस भाषा में देश के अधिकांश मनुष्य बातचीत और पत्रव्यवहार करते हैं, वही देश की भाषा है। जो बोली चालू है, वही चलेगी। जो नये लफ़्ज और शब्द समय की सहायता से उसमें खपते हैं, वही खपेंगे। प्रान्तीय भाषाएं बोलते समय, कभी किसी के दिल में यह ख्याल नहीं उठता कि यह लफ्ज इस्तेमाल न करो, नहीं तो हिन्दुत्व की लुटिया डूब जाएगी, अथवा यह शब्द प्रयोग में न लाओ, नहीं तो इस्लाम का बेड़ा ग़र्क हो जाएगा। प्रान्तीय भाषाएं बोलते समय, सारे हिन्दू और मुसलमान एक हो जाते हैं। चाहे संस्कृत के शब्द आएं, चाहे अरबी के, चाहे फ़ारसी के, सब सानन्द, धाराप्रवाह

बोलते हैं। वह मां के दूध के साथ उनकी ज़बान पर चढ़ा है। केवल रहन-सहन के क्षेत्र में ही नहीं, बोल-चाल के क्षेत्र में भी, प्रान्तीयता हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रदर्शित करती है।

पञ्जाबी भाषा में तो विकृत संस्कृत शब्द इतने हैं कि उसके भार से उसकी अदा ही वैदिक हो जाती है। फिर भी, हिन्दू और सिक्खों की तरह, मुसलमानों ने उसे अपना रखा है। हमारा देश गांवों में बसता है। हमारे प्रान्त भी गांवों में बसते हैं। पञ्जाबी गांवों में रहनेवाले मुसलमान, जिनकी संख्या पञ्जाबी शहरों में रहने वाले मुसलमानों से कहीं अधिक है, केवल पञ्जाबी बोलते हैं। पञ्जाबी शहरी मुसलमान भी अधिकतर अपनी प्रान्तीय भाषा ही बोलते हैं। जब पञ्जाबी बोलनेवाली मुसलमान माताएं अपने बच्चों को किसी ख़तरे में पड़ते देखकर, भयभीत होकर, चिल्ला पड़ती हैं, "ध्यान नाल" तब उन्हें यह ध्यान नहीं आता कि ध्यान शब्द संस्कृत का शब्द है। और जब वह प्यार के झोंके में झूमकर अपने बच्चों को "कुच्छड़" में बिठाने के लिए बुलाती हैं, तब उन्हें यह पता नहीं होता, कि कुच्छड़ शब्द किसी संस्कृत शब्द का अपभ्रंश है। पिता-माता, भाई-बहिन और पति-पत्नी जब तक पिता-माता, भाई-बहिन और पति-पत्नी ही बने रहते हैं—पॉलीटीशियन नहीं बनते, राजनीति के चक्कर में नहीं पड़ते—तब तक वह उत्पात और उपद्रव की भाषा नहीं बोलते। यू० पी० के उस भाग में जहाँ फ़ारसी का ज़ोर रहा है, लाखों हिन्दू ऐसे हैं—ख़ासकर कायस्थ जाति के—जिनके घर में ऐसी ज़बान बोली जाती है, जो अन्य सूबे में रहने वाले फ़ारसी के दिलदादा मुसलमान भी अक्सर नहीं बोल पाते हैं। भाषाओं की तो यह

आदत है, कि वह अपना पुराना स्वरूप बनाए रखने का प्रयत्न करते हुए भी, मौक़ा महल देखकर और भाषाओं से, जो कुछ ले सकती हैं, ले लेती हैं और जो चीज़ लेती हैं, उसका अपने मन के म्वाफ़िक थोड़ा-बहुत ढांचा भी बदल देती हैं। रेल, स्टेशन, टिकट, स्कूल ऐसे बहुत से अँग्रेज़ी के शब्द, हिन्दुस्तानी में ही नहीं, प्रान्तीय भाषाओं में भी समा गए हैं।

बङ्गाल में हिन्दू हिन्दू से धैर्य रखने को कहेगा, तो संस्कृत का कोष खोलकर उपदेश नहीं देगा। बड़ी सरलता से कहेगा, "शबूर कर"। सब्र संस्कृत का शब्द नहीं है। बङ्गाली भाषा में संस्कृत के शब्दों की रेलमपेल है। पर उस रेलमपेल में भी अरबी के शब्द मौज करते हैं। मुसलमान बङ्गाली, कहीं बड़ा शोर-गुल देखकर, यही कहेगा कि, "ओखाने भीषण शोर गुल होच्छे"। भीषण शुद्ध संस्कृत शब्द है, पर उसका शोर गुल के साथ मेल ऐसा ही स्वाभाविक है,जैसा बङ्गाली हिन्दुओं के साथ बंगाली मुसलमानों का मेल। मराठी भाषा संस्कृत के रस से खूब सिंचित होती है। पर उसमें भी कहीं न कहीं से फ़ारसी के लफ़्ज़ दाख़िल हो ही जाते हैं। मिसाल के तौर पर यह वाक्य देखिए:"एका सामान्य माणसाने सामान्य जनां करितां लिहलेले हें पुस्तक आहे। या पुस्तकांत पांडित्य नाहीं, विद्वता नाहीं। शेंकड़ों ग्रंथातील आधार व संदर्भवचने वगैरे ये थें हीं एक नाहीं।" अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। शब्दों की ध्वनि से ही यह स्पष्ट है, कि संस्कृत के सीधे-टेढ़े शब्दों का तूफ़ान आ गया है। बीच में यकायक वगैरा लफ़्ज़ आ गया है। ऐसे ही कौतुक तो यह सिद्ध करते हैं, कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का सबूत मिलने की जहां कोई भी सम्भावना न हो, सबूत मिल जाता है।

गुजराती के एक साधारण वाक्य पर ध्यान दीजिए: "नौकरी करवा माटे तैयार छुं"। गुजराती हिन्दू हो या मुसलमान यही कहेगा, "नौकरी करवा माटे तैयार छुं"। इस वाक्य में तो ख़ैर, हिन्दूपन और मुसल्मानपन दोनों ही हैं। पर दक्खिनी हिन्दुस्तान में जहाँ तेलगू, तामिल, मलयालम और सिंहाली भाषाएं बोली जाती हैं, वहाँ मुसल्मानों को अपनी प्रान्तीय भाषाएं बोलते सुन कर तो, यह धारणा पक्की हो जाती है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को प्रान्तीयता के जिस जादू ने एक कर रखा है, वह जादू देश के सिर पर चढ़कर बोलनेवाला जादू है। दक्खिनी हिन्दुस्तान की भाषा में संस्कृत और द्राविड़ भाषाओं का मेल है। तेलगू में तो अनगिनती संस्कृत शब्द पाए जाते हैं। जो दक्खिनी मुसलमान तेलगू बोलते हैं, वह मानों संस्कृत बोलते हैं। तेलगू बोलनेवाले मुसलमानों के लिए संस्कृत सीखना बाएं हाथ का खेल है। तेलगू में किसी मुसलमान को बोलते हुए सुनिए, कहेगा, "सहोदर लारा, सहोदरी मनुलारा" (भाइयो और बहिनों)। यदि आप शोर-गुल मचाएंगे तो, संस्कृत-सरीखी तेलगू में ही वह आपकी भर्त्सना करेगा: "निश्शब्द मुग्गा उडडू" (चुप होकर सुनो)। और वह गाएगा तो कुछ ऐसा गाना गायेगा :

कदन भूमि के गुदाम, कत्ति दूसि दूकु दाम।
फासि जन्नि सुप मापि, प्रजल शक्ति चाटु दाम।
हिन्दु मुस्लिम मुलैक्य मैं, बिज्टं भिंचि पोस दाम।
चीन रश्या देश प्रजला, स्थान माक्क मिंचु दाम।
समर भूमि के गुदाम, शत्रु शिर मुनस कुदाम।
यत ताका नेत्तु दाम, विजय घोषे पुट्ट दाम।

(हम सब, तलवार निकाल कर, हाथ में लेंगे और समर-भूमि में जाएंगे। इस फ़ासिज़्म का अन्त करके विश्व-जनता की शक्ति को अक्षुण्ण बनाएंगे। हम हिन्दू, मुसलमान एक साथ ही रणक्षेत्र में कूद पड़ेंगे। आज रूस और चीन की जनता, जिस ऊंची जगह पर हैं, हम भी उसी ऊंची जगह पर पहुंचेंगे। समरभूमि में हम गाते हुए चलेंगे। दुश्मनों के सिर धड़ से अलग कर देंगे। इस विजय-पताका को हम आसमान में फहराएंगे। जयजयकार की दुंदुभि बजाएंगे।)

काव्य

हिन्दू और मुसलमान झिलमिल हिन्दुस्तानी जीवन का ताना-बाना हैं। जहां दिखावट दुरङ्गी दिखाई देती है, वहां भी असल में एक ही रङ्ग है। जिनकी नज़र, घरेलू सियासी झगड़ों और झंझटों में गड़ी रहकर, अपना पैनापन खो नहीं बैठी है, उनकी नज़र सहज ही में इस तत्व की तह तक जा सकती है। कोई कहीं से और कोई कहीं से आकर, हिन्दुस्तान की धरती पर बसा हो, उनका कैसा ही रूप-रङ्ग हो, चाहे दिलों में भेद हो, चाहे आत्माओं तक में भेद हो, वह हिमालय की हवा, और गङ्गा के पानी के प्रभाव से एक रस, एक रङ्ग और एक गन्ध हो जाते हैं। यह ठीक है, कि हरएक धर्म की अपनी छाप अलग है। पर उस छाप की स्याही चाहे कितनी ही गाढ़ी हो और उसकी खड़ी पड़ी लकीरें चाहे कितनी ही गहरी हों, इस जगह और उस जगह के रहने वालों की बोल-चाल और रहन-सहन की समानता को नहीं मिटा सकतीं।

कहीं शलवार का घेरा है, तो कहीं धोती का फैलाव है। यही बोली की बात है। कहीं भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है, तो कहीं ज़बान में अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों की बहुतायत है। इस्लाम अक्सर, धोती पहिन कर, संस्कृत शब्दों का उच्चारण करता है—जैसे बङ्गाल में बङ्गला में। और हिन्दू धर्म का कहना ही क्या है! वह तो बहुधा, पाजामा धारण करके, अरबी और फ़ारसी बघारता है। मज़ा यह है, कि पेशावर से लेकर कलकत्ता तक—सिन्ध, बम्बई, राजपूताना और मध्य हिन्दुस्तान में भी—तरह-तरह की चहचहाहट के बीच बराबर एक ऐसी तान छिड़ी रहती है, जो सब की समझ में आ जाती है। उर्दू कहिए, हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, इसे कुछ ही कहिए, पर आपको हज़ार बार हार कर कहना पड़ेगा, कि यह सब की चीज़ है। सूबों के सम्मेलन में यह लोगों का गूंगापन और बहरापन दूर करती है। ऐसी ही बातों में तो हिन्दुस्तान के एकताला जीवन-राग की मिठास पाई जाती है।

कभी आपस में बैर करनेवाले लड़ाके झगड़ालू हिन्दुओं और मुसलमानों ने साहित्य के शीशे में लड़ाई-झगड़ा करने के पहिले या पश्चात् अपना मुंह देखा है? क्या उनका प्रतिबिम्ब उन्हें यह कहकर धिक्कारता नहीं है, कि तुम तो भाई समान हो, तुम्हारा नख-शिख ही नहीं मिलता जुलता है, उनकी छबि भी मिलती-जुलती है। जिनके मकान की छतें एक दूसरे का दुलार करती हों, एक दूसरे को चूमती हों, जो स्वयं गलबहियां डालकर चलते रहे हों, जिनका चोली-दामन का साथ हो, उनके जीवन की धाराएं अक्सर एक बनकर बहें, इसमें अचम्भे

की कौन सी बात है? हमारे सुख की उछल-कूद और अठखेलियों में ही एकपन नहीं है, हमारे दुख की मजबूरियों और लाचारियों में भी एकपन है। हमदर्दी उस एकपन को बड़ी कोमलता से दिखलाती है। मुसलमानी रुमाल रोज़ ही हिन्दू आँसू पोंछते हैं—सारा ग़म पी जाते हैं। जैसे हमारे गाने की, वैसे ही हमारे रोने की, भाषा भी, यदि हम ज़िद में आकर उसे बिगाड़ न दें, एक समान है। हमारे जीवन का रहस्य, हमारी ज़िन्दगी की फ़िलासफ़ी, इन बातों पर जो कुछ पुराने हिन्दू और मुसलमान कवियों ने लिखा है, उन सब में हमारे एकपन का सन्देश अंकित है। और तो और, मामूली फुटकर कविताओं से भी हमारे भाईचारे की गम-गम सुगन्धि आती है।

पुराने गाने वाले या पुरानी कविता करने वाले महात्माओं के अमिट संसार की थोड़ी देर भी सैर करिये, तो पग-पग पर आपको अनेकपन में एकपन का चमत्कार दिखाई देगा। गवैये और कवि चाहे मुसलमान हों चाहे हिन्दू, जो अमर फूल उनके मुख से झड़े हैं, उनमे अक्सर एक ही-सी महक है, और जो अटूट मोती उनके नयनों से गिरे हैं, उनमें अक्सर एक ही-सी चमक है। मशहूर मुसलमान कवि रसखान ने, अपने रस की खान से, ब्रजभाषा में क्या कमाल की चीज़ें जनता को प्रदान कीं। और दूसरे विख्यात मुसलमान कवि जायसी ने भी, अपनी प्रतिभा के समुद्र से अवधिया में क्या गज़ब की चीज़ें लोगों को भेंट कीं। इसी तरह, अमीर ख़ुसरो और कबीर ऐसे आकाश के तारे तोड़ने वाले कवियों ने इस धरती को नये रत्नों से जड़ दिया, जो हिन्दू, मुसलमान सब

की सम्पत्ति बन गई। इस अद्भुत, रत्नजड़ित धरती पर हम सब इठलाते-मठलाते, अभिमान करते, गुमान करते चलते हैं।

जायसी ने जब "सय्यद अशरफ़ पीर प्यारा" का गुन गाया तो उन्होंने एक छन के लिए भी यह नहीं सोचा, कि उनके गीत में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की बेतहाशा भर्ती होनी चाहिए। उन्होंने जो ध्वनि हृदय में उठी, वह ध्वनि वैसे ही बाहर गुंजरित होने दी। उन्होंने गाया :—

सय्यद अशरफ़ पीर पियारा।
जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हिये प्रेम कर दिया।
उठी ज्योति भा निर्मल हिया॥
मारग हुतो अँधेर असूझा।
भा उजेर सब जाना बूझा॥
खार समुद्र पाप मोर मेला।
बोहित धर्म कीन्ह कै चेला॥
जाके ऐस होहिं कनहारा।
तुरत बेग सो पावे पारा॥
दस्तगीर गाढ़े के साथी।
जहं अवगाह देहिं तहँ हाथी॥

जायसी की पाक रुह के साथ कट्टर से कट्टर फिरक़ा-परस्त इन्सान को भी उलझने की हिम्मत नहीं हो सकती। कौन ऐसा भक्ति के रङ्ग में रङ्गे हुए भाव और भाषा का दुश्मन है, जो यह कहेगा कि जायसी ने "दिल के चिराग़" की जगह "प्रेम का दिया", "साफ़" की जगह "निर्मल", "रास्ते" की जगह "मारग", "मज़हब" की जगह "धर्म" ऐसे शब्दों का इस्तेमाल

करके, "सय्यद अशरफ़ पीर पियारा" का अपमान किया और मुसल्मानों के मज़हब की दुर्गति कर दी? इस्लामी भावों का शरीर, जब हिन्दी भाषा का वस्त्र पहन कर सामने आता है, तभी तो वह अजीब छटा, बारूदी अनार की-सी प्रकाशित होती है, जो हमारे एकमेल जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है। बिल्कुल वैसी ही जगमग तब होती है जब इस्लामी तेल में डूबी हुई हिन्दू बत्ती जाग उठती है और उसकी ज्योति नाचने लगती है। कई मुसलमान कवियों ने तो, कृष्ण के प्रेम में मस्त होकर, ऐसे गाने गाए हैं, जिन में भाव और भाषा एक होकर एकपन के निर्झर झाग-भरे झरने से झरे हैं। रसखान के रससागर में कुछ डुबकियां लगाइए :—

मानस हौं तो वहै रसखान।
वसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन॥
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो।
चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वहै गिरि को जो।
धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन॥
जो खग हौं तो बसेरो करौं वहै।
कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥
या लकुटी और कामरिया पर।
राज तिहू पुर को तजि डारौं॥
आठहु सिद्ध नवो निधि को सुख।
नन्द की गाई चराई बिसारौं॥
आंखिन सों रसखान कबै।
ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं॥

कोटिन हूं कल धौत के धाम ।
करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥

रसखान के मनोरथ देखिये। वह चाहते हैं, कि यदि वह पशु तो बनें, तो कृष्ण की गायों के बीच वृन्दावन में घास चरा करें। और यदि पंछी बनें, तो कालिन्दी के किनारे कदम्ब की डार पर फुदका करें। रसखान पक्के मुसलमान थे। उन्हें पुनर्जन्म में, और फिर ऐसे पुनर्जन्म में, जिसमें नीची से नीची योनियाँ मिलें, विश्वास कैसे हो सकता था? उन्होंने जो कुछ कहा, एक विचारधारा में बह कर कहा। वह यमुना में किल्लोल करने के लिए कूदे, तो उन्हें आंख बन्द करके, रङ्गबिरङ्ग, सुन्दर स्वप्न देखते हुए, कल-कल छल-छल धारा के साथ बहने में ही सुख मिला। इसी सुख का चित्र तो उस हिन्दोस्तानी एकता की झलक है, जो आज कल के सियासी भूचाल और तूफ़ान में भी बनी हुई है। तीन लोक, आठ सिद्धियां और नव निधियां इनकी इस्लामी धर्मग्रन्थों में कहीं चर्चा नहीं है। रसखान ने अपनी कविता में इनका उल्लेख करके इस बात का प्रमाण दिया है, कि काव्यकला भेदभावों की ओर ध्यान नहीं देती—वह तो उस मधुमक्खी की तरह है, जो पानी में तैरनेवाले कमल से भी रस लाती है, और कांटों में रहने वाले गुलाब से भी; उसका तो काम यह है कि सभी रसों का शहद बनाकर, सब का मुँह मीठा करे। इस शहद की मिठास का मज़ा केवल उन लोगों को नहीं आ सकता, जो फिरक़ापरस्ती के तपेदिक़ की दबोच में पड़े हुए हैं और जिनके मुँह का ज़ायका ख़राब हो चुका है।

× × × ×

भगवान की—ऐसी आंखों से-ओझल शक्ति की—जिससे यह सूरज, चांद, तारे, आकाश और पृथ्वी पैदा हुए हैं, उपासना में मस्त होकर, जिन हिन्दू और मुसलमान कवियों ने अपनी आत्माओं के तार झंकृत किये हैं, उनके गाने में, तराने में बराबर हमारे जीवन की एकामयी का रस मिलता है। कोई रस की बूंद छोटी है और कोई बड़ी है—यह भिन्नता है। पर सब गोल-गोल हैं—यह समानता है। किसी में .कुदरत के आसमान में कभी-कभी तनने-वाली कमान, इन्द्रधनुष, के सभी रङ्ग अलग-अलग दिखाई देते हैं—यह "नहीं" के कई "हां" रूप हैं। पर किसी में कोई रङ्ग नहीं दिखाई देता—इस "नहीं" में कई "हां" मिले हुए हैं। सायंस यह बात, शीशे का एक तिकोना टुकड़ा लेकर और उसमें सूरज की एक किरण पिरो कर, बड़ी सरलता से समझा देती है। उजली किरण टेढ़ी होकर टूट जाती है। और उस में से कई रङ्ग फूट पड़ते है। जैसे दुनिया पैदा करनेवाली हस्ती की लीला अपरम्पार है—और तो और, उस हस्ती का अर्थ समझना कठिन है—वैसे ही जीवन के रहस्य की गहराई भी तेज़ से तेज़ बुद्धि की गोताख़ोरी से परे है। हां, जब सूफ़ी प्रेममार्गी उसके सम्बन्ध में कुछ कहते हैं, तब जो लोग मिथ्या धर्म की ताल-तलैयों में पड़े हुए हैं, उन्हें पता लगता है कि वह सागर, जिसकी लहरों पर सवार होकर वह स्वर्ग में दाख़िल हो सकते हैं, और जो सारे सब धर्मों के निचोड़ से भरा हुआ है, स्वयं उनके हृदयों में तरङ्गित हो रहा है। मानवता हिन्दुओं के धर्म का संदेश है। मानवता मुसलमानों के धर्म का संदेश है। मानवता सभी लोगों के धर्मों का संदेश है। सारे मनुष्यों का एक ही अन्त है। उस

अन्त में हम सब एक हैं। जहां ऐसी दार्शनिकता का राज्य हो, वहां तो उत्पात कभी नहीं होना चाहिए। कबीर ने खूब ही कहा है :—

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे
बिछुरे पंच तत्त की रचना,
तब हम रामहिं पावहिंगे।
पृथ्वी का गुण पानी सोख्या,
पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि,
यह कहि साल नवावहिंगे।
जैसे जलद तरङ्ग तरङ्गिनि
ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहे कबीर स्वामि सुखसागर,
हंसहिं हंस मिलावहिंगे।

कबीर ऐसा काला कम्बल ओढ़ा करते थे, जिस पर "चढ़े न दूजो रङ्ग"। पर वह उस कम्बल में मुंह लपेट कर पड़ नहीं जाया करते थे। सदा सजग रहते थे, और दुनिया के इस छोर से उस छोर तक नज़र दौड़ाया करते थे। "चलती चाकी देख के" जब वह रो पड़ा करते थे, तब अपने आंसुओं की नदी में वह डूब नहीं जाया करते थे। वह उस में, तैराक फिलासफ़र की तरह, तैरते हुए दुनियावालों को चेतावनी दिया करते थे। सब को मेल-जोल का पाठ पढ़ाया करते थे। और यह उपदेश दिया करते थे कि, "जिस मंज़िल पर तुम पहुंचना चाहते हो, वह बाहर नहीं है, भीतर ही है"। उन की वाणी, उसी हिन्दुस्तानी संस्कृति की तरह, जिसका मैं बखान कर

रहा हूं, कई स्वरों को मिलाकर एक स्वर उत्पन्न करनेवाली वाणी थी। जब उन्होंने कुछ कहा, तब कोप या लुग़त अपने सामने रखकर, नहीं कहा। न इसका, न उसका, उन्होंने किसी का भी बन्धन स्वीकार नहीं किया। भाषा की स्वतन्त्रता के साथ उन्हों ने विचारों की विशालता भी दिखाई। जहां उन्होंने पंचतत्व से शरीर की रचना का वर्णन किया, वहां यह भी कहा:—

छोड़ बदवक्त तू क़हर की नज़र कूं।
खोल दिल बीच जहां बसत हक्का॥
अजब दीदार है, अजब महबूब है।
करन कारन जहां सबद सच्चा॥
खड़े दाद बन्द दरवेश दर्गाह में।
ख़ैर और मिहर मौजूद मक्का॥
ज़िक्र कर रब्ब का फ़िक्र दा दफ़्फ़े कर।
कहे कबीर यह सखुन पक्का॥

जिन्हें आज हम उर्दू और हिन्दी कहकर लड़वाते हैं, उन भाषाओं का इस कथन में कैसा सुन्दर मेल है। ऐसा सुन्दर भाषा-सम्मेलन करवाकर तो तुलसीदास सरीखे संस्कृतप्रेमी भी प्रसन्न हुआ करते थे। उन्होंने उर्दू और हिन्दी की क्या पंक्तियां बनाई हैं:—

सुर स्वार्थी अनीस अलायक।
निठुर दया चित नाहीं।
× × ×
ठौर ठौर साहिबी होत है।
ख्याल काल कसि केरो।

यदि आजकल कोई लेखक "अलायक", "साहिब",

"ख्याल" का ठौर-ठौर प्रयोग करे, तो देखिए, धर्मान्ध टीकाकारों की कांव-कांव होती है या नहीं। सूरदास ने तो और भी खुलकर हिन्दी और उर्दू का मिश्रण किया है। उससे कोई कड़ुवी खिचड़ी नहीं बनी है, किन्तु अजीब मीठी मिसरी बनी है।

हरि, हौं ऐसो अमल कमायो।
सात्रिक जमा हुती जो जोरी।
मिन जालिक तल ल्याओ।
वासिल बाकी, स्याहा मुजमिल।
सब अधर्म की बाकी।
चित्रगुप्त, सुहोत मुस्तौफी।
सरन गहूं मैं काकी।

सूरदास ने बाहर की आंखें खोकर, अन्दर की आंखें पाईं। उन आंखों से उन्होंने जो जलवा देखा, उस जलवे की झलक उन्हों ने अपनी कविता के दर्पण द्वारा हमारे संसार पर डाली, जिससे इसका एक-एक कोना रोशन हो गया। पर हमारी आंखें न खुलीं। नेत्रहीन हम भटक रहे हैं। अपने भाइयों के हम निकट आते हैं, उनसे स्पर्श होता, तो बजाय इसके कि हम उन्हें अपना समझ कर, छाती से लगा लें, उन्हें दूसरा समझकर, पशुओं की भांति दांतों और नखों से काटने और नोचने लगते हैं। साहित्य कहता है, कि हमारे रूप, रङ्ग, विचार और बोलचाल में काफ़ी एकपन है। लेकिन हमारी दशा ऐसी है, कि हम अपनी वाणी की प्रतिध्वनि नहीं पहचानते और अपनी छाया से डरते हैं।

× × × ×

हर साल बहिश्त से नए फूल-पत्ते उड़ा कर उन्हें हिन्दुस्तान

में लाने वाली वसंती हवा पर हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रचारकों को बड़ा भरोसा है। उन्हें विश्वास है, कि यदि लोग अपने कुविचारों की गन्दी कोठरियों में बन्द न रह कर, नए फूल-पत्ते वाले बाग़ की सैर करें और वसंती वायु सेवन करें, तो उनके दिल और दिमाग़ दोनों ही सुधर जाएँ। बसंत को वह ऐसा त्यौहार बना देना चाहते हैं, जिसे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सब अपना कहने लगें। बसंत के अवसर पर तितलियां, बुलबुल, भौंरे सब एक साथ मंगल करते हैं और यह अनुभव करते हैं, कि सब एक हैं। हम किसी भी धर्म के अनुयायी हों, हमारी धार्मिक खाल कितनी ही मोटी हो, हम अपने देश के बसंत ऐसे मौसम के प्रभाव से कैसे बच सकते हैं? निसार मुसलमान कवि थे। पर वसंत आने पर हिन्दी में चहक पड़े। जब किसी का हृदय आन्दोलित होता है, तब वह भाषा के सवाल पर बहस नहीं करता। बस गा चलता है। निसार ने गाया :—

ऋतुवसन्त आई वन फूला।
जोगी जती देख रंग भूला॥
पूरन काम कमान चढ़ावा।
विरही हिए बान अस लावा॥
फूलहि फूल सुखी गुंजारहिं।
लागे आग अनार के डारहिं॥
कुसुम केतकी मालति वासा।
भूले भंवर फिरहिं चहुँ पासा॥
मैं का करउँ कहाँ अब जाऊँ।
मों कहुँ नाहिं जगत महँ ठाऊँ

टेसू फूल तो कौन उजेरा।
लागे आग जरैं चहुँ फेरा॥

× × ×

तैसे धन बाउर भई।
बौरे आम लतान॥
मैं बौरी दौरो फिरउँ।
सुन कोयल की तान॥

हिन्दुस्तानी मुस्लिम हृदय जहाँ बुलबुल की सीटियों से सिहर उठता है, वहाँ कोयल की कूक से भी वह विकल हो जाता है। जहाँ गुलाब को देख कर वह खिलखिला कर खिल उठता है, वहाँ केतकी और मालती को देखकर भी वह विवश-सा विकसित हो जाता है। और विरही होकर तो वह "तोबा, तोबा" के साथ यह भी कहता है कि "हाय कामदेव, यह तुमने क्या किया"। वह सोचता है कि कामदेव के तीर निकलें और जख्म भरें, तो कभी फिर इस कूँचे में आने का नाम न लूँ। यह दो संस्कृतियों के मेल का कैसा सुन्दर नमूना है! हिन्दुस्तानी साहित्य का मैदान अजीब मैदान है। यहाँ के दृश्य देख कर अक़्ल दंग रह जाती है। यहाँ ईरान के भाव और विचार धाराओं का आर्यवर्त के भाव और विचार धाराओं के साथ विचित्र संगम दिखाई देता है। और जब कोई मुसलमान कवि ठेठ हिन्दी में निरी हिन्दू बात कहता है, तब तो वह गुदगुदी होती है, जो गुदगुदानेवाली उँगलियों और गुदगुदायेजानेवाले शरीर की गहरी दोस्ती का पक्का प्रमाण है। नूर मुहम्मद राजा रानी की कहानी कहते कैसे प्यारे लगते हैं:—

मन दृग सों इक राति मंझारा।
सूझि परा मोहिं सब संसारा॥
देखिउँ नीक एक फुलवारी।
देखउँ तहां पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख शोभा बरनि न जाई।
चंद सुरुज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक देखउँ तहि ठाऊं।
पूछेउँ तासों तिन कर नाऊं॥
कहां अहै राजा औ रानी।
इन्द्रावति औ कुंवर गियानी॥

बिल्कुल उसी लहजे में उसमान भगवान की खोज का बखान करते हैं और नूर मुहम्मद के समान ही प्यारे लगते हैं। कहते हैं :—

निकसी तीर भई बैरागी।
धरे ध्यान सब विनवै लागी॥
गुपुत तोहिं पावहिं का जानी।
परगट मँह जो रहे छिपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारों वेदू।
रहा खोजि पै भाव न भेदू॥
हम अंधी गेहि आयु न सूझा।
भेद तुम्हार कहां लौं बूझा॥
कौन सो ठाऊं जहां तुम नाहीं।
हम चख जोति न देखहिं काहीं॥

अमीर खुसरो बड़ी सरल, तरल भाषा में बच्चों के सामने पहेलियां रखा करते थे। उन्हें कभी यह ख्याल नहीं आया

कि मुसलमान बच्चों के लिए अलग पहेलियाँ बनाऊँ और हिन्दू बच्चों के लिये अलग। उन्होंने कहा :—

एक कहानी मैं कहूं, तू सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बांध गले में सूत॥

किसी माई के लाल की उनसे यह कहने की हिम्मत न पड़ी, कि पूत न कहिए, फ़रज़ंद कहिए। उन्होंने यह क़सम नहीं खाई थी, कि फ़रज़ंद लफ़्ज़ का वह कभी इस्तेमाल ही न करेंगे। वह कोई बन्धन स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। न उन्हें संस्कृत मार्के की हिन्दी का ताला पसन्द था, न फ़ारसी मार्के की उर्दू की लगाम। वह तो बच्चों की पवित्र, आसान, आज़ाद बोली में बात करना जानते थे। सुनिए :—

एक थाल मोती से भरा।
सब के सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे।
मोती उससे एक न गिरै॥
आवे तो अन्धेरी लावै।
जावे तो सब सुख हो जावै॥
क्या जानूँ वह कैसा है।
जैसा देखा वैसा है॥

साधारण, फिर भी बड़ी चुभती हुई, मिसालें देकर, ऐसी मिसालें जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के दिलों में घर कर जाएँ, रहीम लोगों को सीख दिया करते थे। उनका एक कथन सुनिए :—

खीरा सिर से काटिए।
भरिए नमक बनाय।

रहिमन कड़ुवे मुखन को।
चहियत यही सज़ाय॥

कौन ऐसा हिन्दू या मुसलमान है, जिसका कभी किसी कड़ुवे मुखवाले मनुष्य से वास्ता न पड़ा हो, या जिसने कभी खीरा न खाया हो। हर हिन्दुस्तानी के हृदय पर रहीम के इस दोहे की, जिसमें मिसाल और सलाह का सब की समझ में आनेवाला अनोखा मेल है, गहरी छाप पड़ेगी। रहीम के हाथ में लफ़्ज़ों का सिलसिला वैसा ही था जैसा इत्र में तरतबर मोम का पिंड। देखिए इस सुन्दर शब्दमूर्ति से क्या सुगन्धित भाव की लपटें निकलती हैं:—

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
एक घरी भर सजनी रहु चुपचाप॥
सघन कुंज अमरैया सीतल छाहिं।
झगरति आइ कोइलिया पुनि उड़ि जाहिं॥
लहरत लहर लहरिया लहर बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार॥

हिन्दू छवि और मुसलमान छवि दोनों ही "मोतिन जरी किनरिया" वाली चुनरी ओढ़ती हैं। जो लहरिया लहर बहार है, वही उनके एकपन की उभार है। क्या उभार है!

"नादिराते शाही"

रामपुर के पुस्तकालय में मुझे "नादिरातेशाही" नाम की एक ऐसी पुस्तक देखने को मिली, जिसका एक-एक पन्ना इस बात का प्रमाण पत्र है, कि हिन्दू और मुस्लिम भाषा और भाव मुग़ल सम्राटों की आंखों की पुतलियों और उनकी अदाओं के समान थे। "नादिराते शाही" के लेखक शाहआलम बुझते-हुए मुग़ल साम्राज्य के चिराग़ की अब-चली अब-चली लौ थे। वह जब सन् १८०६ ईसवी में मरे, तब मुग़ल साम्राज्य भी मर-सा गया। पर मुग़लों की बनाई हुई हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति को उनकी अमर किताब "नादिराते शाही" ने चार चांद लगा दिए। इस पुस्तक की विशेषता यह है, कि इसमें जहां शेर और ग़ज़लें हैं, वहां चौपाइयां और छन्द भी हैं। और यह सब देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में लिखे हैं। पुस्तक दाहिनी ओर से प्रारम्भ होकर बाईं ओर समाप्त होती है। वही शेर और वही चौपाई देवनागरी और फ़ारसी दोनों ही लिपियों में ऊपर-नीचे अंकित हैं। पर पहिले

देवनागरी लिपि है, फिर फ़ारसी लिपि। शाह आलम के मन में एक छन के लिये यह ख्याल नहीं आया, कि इससे इस्लाम या उर्दू की मानहानि हो जायगी। यही तो चीज़ थी, जो हिन्दुओं और मुसलमानों को एक प्राणवाले दो शरीर बनाए हुए थी। आज क़ालिब ही दो नहीं हैं, जानें भी हो दो रही हैं। और वह लड़ने को खार खाए बैठी रहती हैं। सुनें यह जली-भुनी जानें, कि शाहआलम क्या कहते हैं :—

साल नयो अब आयो भलो।
शाहआलम के घर होगी बधाई॥
मुबारक हो नौ रोज तुम्हें।
अब जी की मुराद सबै भर पाई॥
भूषन अंग सिंगार सजे।
अब धाय के लक्ष्मी गेह में आई॥
दुर्जन नास भए तुम्हरे।
अब देत यही चहुं ओर सुनाई॥

और सुनें—

ऐरी माई आज अति ही आनन्द सूँ।
सब गुनी करें पुरी सुहाली॥
"शाह आलम" पिया के मन्दिर भई रोशनी।
जगमगात की रात दिवाली॥

जैसे गा-गा कर शाह आलम नया वर्ष और दीवाली मनाते थे, वैसे ही गा-गा वह होली मनाते थे। क्या रंगीले शब्द हैं उनके:—

अनुराग हैं रंग भरो, बहु भाँति।
छूटे रंग डोरी सुधार से झोरी॥
पिचकारी मन नीलम काजर है।
तरुनी मन मूठी से छुटे न ढोरी॥
अजलाई गुलाल लिए पल फेट।
अबीर है सिता कुमकुम गोरी॥
कर लाज बड़ो "शाह आलम" के।
संग नैनन ही में खेलत होरी॥

दीवाली और होली के अवसर पर शाह आलम का अंग आनन्द से ऐसे ही फड़कता था जैसे ईद और बकरीद के अवसर पर। उन्हें रङ्ग और रोशनी इतनी ही अच्छी लगती थी जितनी कि सेवियां। रोशनी और रङ्ग हिन्दू हैं और ईद की सेविया मुसलमान; इससे न उनकी दृष्टि में कोई अन्तर पड़ता था, न स्वाद में। वह तो प्रेम के, विछोह के, ईर्ष्या के भाव भी हिन्दुओं के ढंग से अदा करना जानते थे। सुनिए, कैसे क्या कहते हैं:—

जंगल जंगल ढूंढती।
कर जोगी का भेस॥
पावस ऋतु कैसे सहूं।
लालन गए विदेस॥
मेरे मनकी सब विथा।
उनसूं कही सुनाइ॥
जाओ सखी समुझाइ कै।
लाओ पिया मनाइ॥

यह नहीं कि शाह आलम ने चुटिया रख ली थी और जनेऊ पहन लिया था। यह नहीं कि उनकी ज़बान फ़ारसी

और अरबी चटखारे खो बैठी थी। वह इस तरह की चीज़ें भी कहा करते थे—

मानन्दे वाला, गुलशने दौरा में जाके हाय।
खूने दिल अपने सागरे दिल में दिया है हाय॥

उनका रहन-सहन, उनका सारा जीवन, अटल-अचल मुसलमानों का सा था। पर वह उस हिन्दू-मुस्लिम मिलाप की मशाल थे, जिसका अमिट प्रकाश सदियों के छेद और सूराखों से निकलता-निकलता हम तक पहुंच ही जाता है। वह चाहे कितना ही धुँधला हो, हिन्दू और मुसलमानों की उस मित्रता को, जो हिन्दुस्तान के इतिहास में, एक सुनहरी लकीर की तरह, इस सिरे से उस सिरे तक खिंची हुई है, प्रकट कर देता है। यह सुनहरी लकीर हम सब के गौरव की ही लकीर नहीं है, किन्तु हम सबके बुद्धिमत्ता की भी लकीर है। इस लकीर के फ़कीर बनने से हम सब अपने भाग्य के राजा बन सकते हैं। नहीं तो हमारी क़िस्मत का फ़ैसला वह घटनाचक्र करेगा जो हिन्दू-मुस्लिम तनातनी के ज़ोर के चलता है। हमारा भाई-चारा हमारे बाप-दादों की देन है—ऐसी देन जिस के मिटने से हम मिट जावेंगे। यदि हम अपना सर्वनाश देखने के लिये उतावले हैं, तभी इसको मिटने दे सकते हैं।

× × × ×

हम अपने को नयनसुख कहते हैं, पर हैं नयनहीन। पुराने जमाने की चीज़ें तो जाने दीजिए, इस ज़माने की चीज़ें भी, जो हमारी आखों के सामने हैं, और जो हमारे एकपन के जीते-जागते सबूत हैं, हम नहीं देख पाते। जो लोग हिन्दू और

मुसल्मानों की चर्चा चलाते समय, तेल और पानी की उपमा देते हैं—उन्हें अनमिल बताते हैं—उन्होंने कभी किसी संगीत-सभा में किसी चतुर-चपल मुसलमान गवैये को सुधा बरसाते, और उस वर्षा में हिन्दू जनता को झूम-झूम जाते, नहीं देखा होगा। तब मानो दोनों के रोम-रोम मिल जाते हैं। उस मिलन के संगीत में हमारे एकपन का संदेश है। हिन्दोस्तान के गवैयों में कई मुसलमान गवैए चोटी पर हैं, गोकि संगीत-कला हिन्दू है। है न यह हमारे जीवन की विभिन्नता में विचित्र समानता। तानसेन के युग में इस संगीत-कला के जीवन ने फूट-फूट कर हिन्दुस्तानियों के जीवन में चांदनी छिटका दी। पर अकबर न होते, तो तानसेन न होते। और तानसेन न होते तो यह कहानी न होती। यों तो संगीत-कला सदा जवान रहने वाली रानी है। पर मुसल्मान बादशाहों और नवाबों ने उसकी बड़ी उन्नति की, यह समझ कर कि यह उनके आत्मा की पुकार है। रामपुर रियासत के पुस्तकालय में मैंने ऐसी अनेक पुरानी किताबें देखीं हैं, जिनमें हिन्दू और मुसलमान विन्दु और रेखाएं घुल-मिल कर, एक परिवार बनाए बैठे हैं। रामपुर के नवाब, सर सैयद मुहम्मद रज़ा अली खां, जिन्होंने हमारे पुराने जीवन के यह आला दरपन जमा कर रखे हैं, उस एकपन के क़ायल हैं, जिसका राज़ यह दरपन बताते हैं, और जो हमारे नए जीवन की नींव हैं। साहित्य से अधिक संगीत के मैदान में हिन्दू-मुस्लिम एकामयी देखने को मिलती है। अपने पूर्वजों की भांति नवाब सर सैयद मुहम्मद रज़ा अली खां भी संगीत से अत्यन्त प्रेम करते हैं। उन्होंने पांच भाग में संगीत-सागर नामक पुस्तक लिखी है। इस संगीत-सागर में स्नान

करके आत्मा को एक विचित्र सुख मिलता है—वह अपने भीगे वसन निचोड़ना नहीं चाहती। विचार मुसलमानी, भाषा हिन्दू, नवाब साहब के गीत यदि कोई हिन्दू गवैया भी गाए, तो मुस्लिम जनता—संगीत के मर्म को समझनेवाली मुस्लिम जनता—सुध-बुध खो बैठेगी। संगीत सागर के चौथे भाग में नवाब साहब ने लिखा है कि "मुझे बेहद मसर्रत है कि आज मैं अपने मुल्क के उस क़दीमी फ़न की किसी क़दर ख़िदमत करने का मौक़ा हासिल कर रहा हूं, जिसकी इसलाह का मुल्क व क़ौम को बेचैनी के साथ इन्तज़ार है"। यह देख कर कि दीबाचे में इस तरह की ज़बान लिखनेवाले नवाब साहब गीतों में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं, आप सहसा कह उठेंगे, कि यही तो हिन्दोस्तानी जीवन की मनोहरता है। भैरवी राग में नवाब साहब लिखते हैं :—

आकाश वासी मिलके पुकारें।
जो बह जाए खेवनहार॥
लीला पुरुषोत्तम का रूप धारे।
अली जी आए नबी दुआर॥
रज़ा मियां की प्रार्थना सुन लो।
तुम हो बड़े बलवान॥
धर्मी के नैया डगमग डोले।
बेड़ा लगा दो पार॥

इस गीत की भाषा में ही नहीं भाव में भी हिन्दुत्व है, यद्यपि विषय बिल्कुल मुसलमानी है। नवाब साहब के सभी गीत इसी तरह के हैं। राग मांड सुनिए :—

फ़ातमा कहे नबी से बाबा।
लाओ हुसैन को दूध पिलाई॥

पिता काहें दी स्वर्ग सरिता ।
ईश्वर ने मोरी जाई ॥
जिबरील लाए ईश्वर संदेशा ।
जग का हुआ कल्यान ॥
मन मन्दिर से तान जो निकली ।
"रज़ा" कविता कहलाई ॥

एक और राग मांड सुनिए :—

आज आई बहार ।
बदरा बरसाए रंग की फुआर ॥
स्वर्ग पंछी संग दादुर पपीहा ।
मधुर तान में गाए मल्हार ॥
हसन के जाए सेहरा बांधे रज़ा ।
बधाई देवें नबी द्वार ॥

गीत बनाने में मस्त होकर नवाब साहब देश, काल सभी भूल गये। मुसलमानों के साहित्य में जहां कहीं भी पूज्य हसन का उल्लेख है वहां न दादुर का नाम पाया जाता है, न पपीहा का और न मधुर मल्हार तान का। हसन जी ने, दादुर और पपीहा की मधुर मल्हार तान सुनना तो दूर रहा, उनकी हल्की-फुल्की हस्ती से वाक़फ़ियत तक हासिल न की होगी। पर "रज़ा मियाँ" को इससे क्या। वह जब रामपुर में बैठ कर हसन के गुन गायेंगे तो इसी तरह गायेंगे। हिन्दुस्तानी जीवन के इसी अनोखेपन में अपनापन है।

उद्यान-निर्माण-कला

हिन्दुस्तान के बाग़ भिन्न-भिन्न रुचियों और इच्छाओं के क्रीड़ास्थल हैं। यहां फूल और पत्तों और पानी की रूप-रेखा और गति में जो मनुष्यों ने समय-समय पर परिवर्तन या संशोधन किया है, वह परिवर्तन या संशोधन देशी और विदेशी सभ्यताओं और संस्कृतियों के प्रेमालिंगन और प्रमोपचार के प्रतिबिम्ब-से हैं। उनके रंगीन रहस्य को समझनेवाले यह समझते हैं, कि अंत में विदेशी वृक्षों की जड़ें इस देश की धरती में उतनी ही गहरी चली गईं, जितनी देशी वृक्षों की गई हुई थीं। दोनों एक ही स्थान से जीवनरस ले कर एक साथ फूलते-फलते और झूमते-झामते थे। उनकी एक साथ फैली हुई छाया हिन्दुस्तान की पुरातन उद्यान की छवि पर पड़े हुए बाहरी प्रभाव की कहानी-सी थी। जो गुलिस्तान और जो बोस्तान, जो फुलवाड़ी और और जो फलवाड़ी, हमें अपने पुरखों से मिली है, उनमें हिन्दुत्व और

और इस्लाम के फूल फूल एक साथ लगते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का इससे अधिक सुंदर और सुहावना प्रमाण और क्या हो सकता है? मुग़लों के हिन्दुस्तान में पधारने से बहुत पहले, यहां फूल-फल से लदी हुई वाटिकाएँ चमचम चमकती और गमगम गमकती थीं। लोग उस काल में भी अपनी तबियत को हरी करने की न-दबनेवाली, बराबर-उभरनेवाली इच्छा रखते थे। उस इच्छा की तृप्ति के लिये रंगों की बहार और सुगंधियों के झोकों की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त पूजा-पाठ विना पत्र-पुष्प के पूरा नहीं हो सकता था। और पूजा-पाठ के विना जीवन अधूरा था।

हिन्दुओं और बौद्धों ने स्वर्ग और निर्वाण की सीढ़िओं का निर्माण पत्तों और फूलों से किया था। प्रकृति मानों हिन्दुओं को गुदगुदाती थी, और उस गुदगुदी में मस्त होकर, उनकी कल्पना उन्हें लाल, नीले, सफ़ेद कमलों पर बैठे हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश के दर्शन करती थी। उनका यह धार्मिक विश्वास था, कि लाल कमल दिन निकलने का चिह्न है और ब्रह्मा को प्यारा लगता है; नीला कमल दिन खिलने का चिह्न है और विष्णु को भाता है; और सफ़ेद कमल दिन डूबने का चिह्न है और महेश को अच्छा लगता है। मानों संसार के बनने, बढ़ने और बिगड़ने की कथा कमल के पुंखुड़ियों पर लाल, नीली और सफ़ेद स्याही में लिखी है। बौद्धों के मन्दिर सदा वाटिकाओं से सजे रहते थे। यह वाटिकाएँ धीरे-धीरे विकसित हो कर चीनी और जापानी उपवन सी बन गईं। हिन्दुओं में तो आदिकाल से ही वृक्षों और बेलों के प्रति प्रम चला आ रहा है। कालिदास जी के बनाए

प्रेमी और प्रेमिकाएँ अपने कोमल हाथों से पौदे लगाते हैं और उन्हें पानी देते हैं। फिर बाग़ों में मस्त झूमते हैं। वन-उपवन हिन्दुस्तान में सदा से मानव जीवन को रंगते और महकाते आए हैं। पर मुग़लों के यहां पदार्पण करने पर उनकी बनावट और सजावट दोनों में अन्तर आ गया। बाबर ने यहां मध्य एशिया और पर्शिया का तौर-तरीक़ा चला दिया। और वह मुग़लिया झरनों और नहरों की चाल के साथ ऐसा चला, कि बहुरंगी हिन्दुस्तानी संस्कृति की एक विशेषता बन गया।

हिन्दुओं में जैन और वैष्णव प्रकृति के उपासक थे। वे इसकी हर एक अदा पर जान देते थे। और उस अदा की याद में बाग़ बनाते थे। हिन्दुओं की पुरानी वाटिकाओं में बहुत से मेहराबदार द्वार होते थे। बहुधा इनकी संख्या चौरासी होती थी—बारह सत्ते चौरासी, कोई ज्योतिषियों का हिसाब था। प्रत्येक बाग़ में पाँच विशेष जाति के वृक्षों को लगाने का शुभ कार्य अवश्य किया जाता था। इन पाँच प्रकार के वृक्षों में से फ़ालसा और नीम तो अभी तक लोकप्रिय हैं। फ़ालसा का लोग शरबत पाते नहीं अघाते, चाहे हिन्दू हों और चाहे मुसलमान, और नीम की रोगहारी पत्तियोंवाली टहनी का सभी मज़हबवाले, रोगों को दूर रखने के लिए या भगाने के लिए, इस्तेमाल करते हैं। सनातन हिन्दुओं की वाटिकाओं के पूरब में बड़ और करौंदा के वृक्ष लगते थे। अब भी कुछ इलाक़ों में यह दरख़्त बहुतायत से मिलते हैं। आज भी करौंदे की चटनी बना कर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही बड़े चाव से चाटते हैं। हिन्दुस्तानी एकता के जीवन का चटपटापन ऐसी ही बातों

से धूमधाम से प्रगट होता है। हाँ, मैं सनातन हिन्दुओं की वाटिकाओं का उल्लेख कर रहा था। उनके दक्खिन में गुलार और वट के वृक्ष होते थे और पच्छिम में अमलक और बेल के। उत्तर में भोड़ और कैथा के वृक्ष लगते थे। कैथा भी, करौंदा की तरह, चटनी बनाने के काम आता है, और यद्यपि इसकी जड़ या इसके पत्ते की हवा भी उस देश में नहीं मिलती, जहां इस्लाम का जन्म हुआ था, फिर भी उसका चटनी-के-चटोरे मुसलमानों के घरों में उतना ही मान है, जितना की चटनी-के-चटोरे हिन्दुओ के घरों में।

बाबर के हिन्दुस्तानी बागों में नए गुल खिलाने और विचित्र बहार लाने के पहले, जो तुर्क और अफ़ग़ान बादशाह यहां राज्य करते थे, उन्होंने उन्हें खूब सजाया-संवारा था। पर उन्होंने जो चमत्कार किया था, उसके चिन्ह तक बहुधा मिट्टी में मिल गए हैं। फिरोज़शाह तुग़लक की जब तूती बोलती थी, तब उसने फ़िरोज़ाबाद के नगर के चारों ओर फूल-पत्तों के सौ ग़लीचे बिछा दिए। पर उन सौ बागों में से एक भी ऐसा न बचा, जो अपने और अपने साथियों के सौन्दर्य की कहानी सुनाता, जिससे फिरोज़शाह की देन के मूल्य का, नए-नए रंग रूप धारण करनेवाली हिन्दुस्तानी संस्कृति और सभ्यता के पारखी कुछ अनुमान कर सकते। बाबर तो मालियों के सिरताज थे। वह अपने प्रकृति-प्रेमी दिल के साथ अपने दिलपसन्द तरु-पल्लव-फूल-फल भी लाए। यही नहीं, वह अपने साथ यह विचार भी लाए, कि पानी के बिना किसी उद्यान में जान नहीं पड़ सकती। उनके अनुभव और बचार ने हिन्दुस्तान में जो खेल खेले, वह खेल देश की

शोभा बन गए। उस शोभा को, विदेशी कहकर, आज कोई ऐसा हिन्दू भी, जिसके सिर पर साम्प्रदायिकता का भूत सवार है, मलिन करने या मिटाने का न परामर्श देगा, न प्रयत्न करेगा।

फूल-पत्तों की छवि-छटा के बाबर कुछ ऐसे पुजारी थे, कि युद्ध के अवसर पर भी वह, लहू की नदियों के रंग को भुलाकर, नई ऋतु के रंग-बिरंगे बेल-बूटों को निहारते मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। ऐसे बादशाह के व्यक्तित्व ने यदि हिन्दुस्तान में बाग़बानी की परिपाटी चला दी और यहां की धरती का नए पौदों से, जिनके पत्ते, फूल, फल सब न्यारे थे, शृंगार कर दिया, तो इसमें कौतूहल की कौन सी बात है? अपनी जन्मभूमि में बाबर ने बहुत से बाग़ बनाए—बाग़े वफ़ा, बाग़े किलां, बाग़े सफ़ा। जब यह माली महोदय हिन्दुस्तान में आए, तब इनकी मंजी-मंजाई रुचि ने देशी उद्यान-कला में जो कमियां देखीं उनको पूरा करने के लिए और जो त्रुटियां देखीं उनको मिटाने के लिए, वह आकुल हो गए। उन्होंने बेघूँट वाली वाटिकाओं की, अपने अनुभवों की कहानी लिखते समय, बड़ी निन्दा की है। पुराने हिन्दुस्तानी बागों में छलछलाते जल के नहरों और झरझराते पानी के झरनों का अभाव भी उन्हें बड़ा अखरता था। जब उन्होंने हिन्दुस्तान में रहने की ठानी, तब वह अपना निवास-स्थान बनाने के लिए ऐसी जगह की खोज में निकले, जहां पानी मनमाना मिल सके।

जमुना की लहरों के साथ आगरा को खेलते हुए देखकर, बाबर का ध्यान उधर गया और यद्यपि वह जगह उनको जंची नहीं, फिर भी आसपास कोई बेहतर जगह न होने के

कारण उन्होने उसे चुन लिया। यहां बाबर ने तुर्की और पर्शियन परम्परा के बीज बोए और उन्हें अपने उद्योग के जल से सींचा। आगरे मे वह पहाड़ी उतार कहां मिलता, जिसके सहारे पानी की चादरें बिछाई जातीं। बाबर ने एक बड़ा कुआं खुदवाया, ज़मीन ढलवां करवाई, हमाम बनवाए, हौज़ तैयार करवाए, नहरें चलवाईं, फूल के पौदों की क्यारियां हिन्दुस्तानी ढंग से लगवाई और फल के वृक्षों के झुरमुट भी हिन्दुस्तानी अदा से खड़े करवाए। उस समय हिन्दुस्तान की मिट्टी ने हाय-दुहाई नहीं मचाई; यह नहीं कहा, कि मुझे क्यों विदेशी आभा दे रहे हो। उस समय हिन्दुस्तान के पानी ने भी हल्ला-गुल्ला नहीं किया; यह नहीं कहा, कि क्यों मेरी गति का बाहरी नियमों के अनुसार नियन्त्रण कर रहे हो। न आगरा की धरती पर बने हुए हमाम और हौज़ हिजरत कर गए। साम्प्रदायिकता यदि उस समय ऐसी शक्ति होती, जैसी आज है, तो बेचारे बाबर के बाग़ का बुरा हाल होता। उसने जो वहां नहर बनाई थी, उसका आकार-प्रकार तो यह कहता हुआ, कि मैं यहां का नही हूँ, आकाश में विलीन हो जाता और जल यह कहता हुआ, कि मैं इनका साथी नहीं हूँ, पाताल में समा जाता।

पर विज्ञान, कला, संस्कृति, सभ्यता अंध कूप-मंडूक नहीं होते। वह इधर से उधर और उधर से इधर होते हैं, अपनी अपनी विशेषताओं की अदला-बदली करते हैं और अपनी उपयोगिता और सुन्दरता की बराबर वृद्धि करते हुए, नए-नए वेश में प्रकट होते हैं। जो वाटिका बाबर ने आगरा में बनाई, वह न शुद्ध विदेशी चीज़ थी और न शुद्ध देशी चीज़। उसमें हिन्दू

और मध्य एशियाई उद्यान-कला के सिद्धान्तों की मेल-मिलावट थी, हौज़ तुर्की ढग के तो पुष्पों की क्यारियां हिन्दू ढंग की। पर हिन्दुस्तान में उसकी रचना होने के कारण वह हिन्दुस्तानी थीं और आज तो उससे भी ज़्यादा हिन्दुस्तानी हैं, जितनी तब थीं। बाबर ने जो गुलाब की क्यारियां वहां लगाईं, वह चाहे कहीं से लाई गई हों, उनके फूलों से हिन्दुस्तान की मिट्टी की खुशबू आती है। और उन्होंने जो नरगिस के पौदे वहां लगाए, वह चाहे कहीं से लाए गए हों, उनके पुष्पों में हिन्दुस्तान के तारों की छवि झलकती है। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी भाग्यशाली हिन्दुस्तानी बालक बाबर और बाबर के पोते और परपोतों के लगाए, उगाए और खिलाए हुए गुलाब से अपने गालों के लिए लाली और कोमलता लेते हैं और नरगिस से अपनी आंखों के लिए सौन्दर्य और मस्ती लेते हैं।

यह गुलाब और नरगिस भी तो, सदियों से हिन्दुतान में रहते-रहते, ऐसे हिन्दुस्तानी हो गये हैं, कि हिन्दुस्तानी कहावतों और मुहावरों तक में समा गए हैं। जहां मुग़लों के बनाए हुए बाग़, उनकी उपज, और उनके तोहफ़े इस तरह हिन्दू और मुसलमानों के जीवन को, साहित्यिक क्षेत्र तक में, एक कर देते हैं, वहां, भेद-भाव की चर्चा करना, इतिहास का अपमान करना नहीं है, तो और क्या है? मुग़लों के बनाए हुए उद्यानों की सैर करना मानो उस नन्दवन की सैर करना है, जहां आगे, पीछे, दाहिने, बाएं, सभी तरफ़ हिन्दू-मुस्लिम एकता के फूल-फल छाए हुए हैं। ऐसे दृश्य देखने के बाद और ऐसी सुगन्धि सूंघने के बाद भी जिनके मस्तिष्क का विकार

दूर न होगा और जो यह बराबर कहते जाएंगे, कि हिन्दूओं और मुसलमानों का सम्बन्ध तेल और पानी के सम्बन्ध के समान है, उनके रोग की सचमुच कोई औषधि नहीं है।

× × × ×

हिन्दू गुलिस्तां और तुर्की बोस्तां के रलज़ल और मेल-जोल से जो फूल-फल खिले फले वह अनोखे थे। उनका अनोखापन सारे हिन्दोस्तानियों की दौलत है और इस देश की बाग़ बनाने की कला के इतिहास में, एक ऐसे परिच्छेद की जान है, जिस पर हिन्दू, मुसलमान सब बराबर घमंड करते हैं। काश सभी हिन्दू, मुसलमान यह भी अनुभव करते, कि उनका यह उचित सम्मिलित अभिमान उनकी खुशनुमा, खुशबूदार, और खुशज़ायक़ा एकता का सबूत है। तुर्की रीति के अनुसार मुग़ल बादशाह, बाग़ों की रचना करने के पहिले, उनके लिये ऐसे स्थानों का, जहां उनका जोबन उभर और निखर सके, चुनाव करते थे। बहुत से बढ़िया मुग़ल उद्यान ऐसी जगहों में उगाए गए हैं, जहां प्रकृति उनका शृङ्गार करने के लिए दिन-रात, अपनी जादू की पिटारी लिए, उपस्थित रहती है—जहां आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे, जल सब कभी नवरत्नवाले जड़ाऊ और कभी एकरंगवाले सादे पर शानदार गहने बन जाते हैं। अच्छाबल वैरीनाग, श्रीनगर आदि में मुग़ल बागों की बहार देखिए—हिन्दू, मुसलमान सभी का दिल बाग़बाग़ हो जाता है।

शिया संसार की शोभा का वर्णन करते हुए साइक्स ने पर्शिया के उपवनों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनका मन वहां के बाग़ों के ढलवान पर लट्टू था और वह, उनकी नहरों में बहता हुआ, उनमें खो गया था। पर्शियन बाग़ों का यह

मनमोहन निरालापन, मुग़ल बादशाह हिन्दुस्तान में लाए। उस निरालेपन से कौन ऐसा कोमल कला का दुश्मन हिन्दू है, जो दुश्मनी कर सकता है। काशमीर के मुग़लिया बाग़ों में सैर करने के लिये हिन्दुस्तान के कोने-कोने से हिन्दू जाते हैं, पर वह कभी वहां के अहिन्दू ढङ्ग वाले नहरों, हौज़ों और झरनों से नहीं झगड़ते हैं; न वह कभी वहां के अहिन्दू ढंग वाले ईंट और पत्थरों से टकराते हैं। वल्कि वह उन्हें अपने नयन का नीर समझते हैं और अपने दिल का टुकड़ा। जैसे मनुष्यों की धमनियों में रक्त वहता है, वैसे ही मुग़लिया बाग़ों की नहरों में जल प्रवाहित होता है। इन नहरों में अक्सर नीले टाइल और रत्न जड़े रहते थे। वह अव नहीं रहे। जव थे तव, पानी में से चमक-चमक कर, वह यह प्रकाशित करते थे, कि मुग़ल बादशाहों का हिन्दुस्तान के साथ ऐसा नाता होगया है, कि वह यहीं के ही हो गए हैं। उन्हों ने अपना तन, मन और धन भी हिन्दुस्तान का गौरव और उसकी गरिमा बढ़ाने में लगाया। यह नीति लोगों को सदा इस बात का स्मरण दिलाती रही है, कि हिन्दू-मुस्लिम एकता की नींव बड़ी पुरानी है और बड़ी मज़बूत है। जब वह मुग़लिया बाग़ों की दीवारें, जिनके अन्दर एक नए हिन्दू-मुस्लिम उद्यान-निर्माण-कला का जन्म हुआ था, आज तक तनी हुई खड़ी हैं, तो क्या हमारे भाईचारे की भीत, जिसके पीछे ऐसी निराली हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति है, जिसे हिन्दुस्तानी सभ्यता और संस्कृति कहना चाहिये, ढह सकती है?

मुग़लिया बाग़ों की दीवारें ऊँची होती हैं। वह हिन्दुस्तानियों के पुराने ऊँचेपन की यादगार हैं। हर एक दीवार के

बीचोबीच एक दरवाज़ा होता है। इस प्रकार चार दीवारों में चार दरवाज़े होते हैं। इनमें एक द्वार और द्वारों से अधिक बड़ा होता है। वही मुख्य द्वार होता है। बाग़ या चौकोर होते हैं, या लम्बे अधिक और चौड़े कम। दीवारों के कोनों पर अठमुखी इमारतें होती हैं। सदियों तक इस देश का वासी बने रहने के बाद, परदेसी परदेसी नहीं कहला सकता; वह तो देसी कहलाता है। दूर देशों से आने वाले यात्री, जब यहां के पुराने उपवनों की सैर करके, अपने घर वापिस जाते हैं, तब वह अपने भ्रमण की कहानी सुनाते हुए, यहां के उपवनों का हिन्दुस्तानियों की सम्पत्ति के तौर पर बखान करते हैं। क्यों न करें ? हिन्दुस्तान में फूलने-फलने वाले उद्यान हिन्दुस्तानी उद्यान हैं, जिनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, पुष्पित पल्लवित लताओं के झूले बना कर, झूलती है।

यद्यपि मुग़लिया बाग़ों का बाहरी रूप पर्शियन होता है और उनका भीतरी रूप भी बहुत कुछ वैसा ही होता है, तब भी उनमें से हिन्दुस्तानी छवि फूट-फूट पड़ती है। जहां उनमें सरों के दरख्त, गुलाब की झाड़ियां और नरगिस के पौदे होते हैं, वहां उनमें आम के वृक्ष, चम्पा के कुंज और चमेली के पुंज भी होते हैं। यदि उन हिन्दू-मुस्लिम फ़साद करवानेवाले हिन्दुओं के बाग़ उजाड़ दिए जाएँ, जिन्होंने उनको मुस्लिम सरों, गुलाब और नरगिस से सजा रखा है, और उन हिन्दू-मुस्लिम फ़साद करवाने वाले मुसलमानों के उद्यान ध्वंस कर दिए जाएँ, जिनको उन्होंने हिन्दू आम, चम्पा और चमेली से सुसज्जित कर रखा है, तब शायद उनकी समझ में आए, कि

हिन्दुस्तानी एकता की उसी एक टहनी पर हिन्दू और मुसलमान दोनों सट कर बैठे हैं। उसके काटने से दोनों ही धराशायी हो कर धूल-धूसरित हो जाएँगे।

जैसे पुराने काल में हिन्दू उपासक, पूजा-पाठ के लिये पुष्प-पत्र की प्राप्ति के निमित्त, अपने घरों या मन्दिरों के साथ वाटिकाएँ जोड़ दिया करते थे, वैसे ही मुग़लों के ज़माने में मुसलमान दरबारी, जहां अपने मकान खड़े किया करते थे, वहां अपनी आंखों में हरियाली छाने के लिए और अपने दिलों में बहार लाने के लिये, बाग़ भी उगा दिया करते थे। मुग़ल बादशाहों को तो अपने बनाए हिन्दुस्तानी बाग़ों से इतना प्रेम था, कि वह अपने जीवनकाल में सदा उनकी गोदों में खेलते रहे और मरने पर उन्हीं की गोदों में समा गए। उनकी समाधियां इनमें बन गईं। उन्हों ने अपने अन्तिम विश्राम के लिये संसार के उस टुकड़े की याद नहीं की, जहां से उन बाग़ों का नक्शा यहां आया था। बाग़ और वह, बाग़ों के रूप-रंग और उनके आचार-विचार, सब हिन्दुस्तान के तत्वों से पूर्णतया प्रभावित हो चुके थे। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता का आधार हमारे जीवन के अंतस्तल में पड़ चुका था। आँखों से साम्प्रदायिक दंभ और द्वेष की पट्टी उतार कर, यदि हिन्दू और मुसलमान उसे देखने का प्रयत्न करें, तो अवश्य साफ़ देख सकते हैं।

बाग़ों के लिए बाबर का चाव कैसा बढ़ा-चढ़ा था, यह सभी फूल-पत्तों की तवारीख़ जाननेवाले जानते हैं। वह कहते हैं, कि उनकी देखा-देखी अनेक मुग़ल सरदार और दरबारी भी अपने निवासस्थान का बाग़ीचों से ठाठबाट करते थे। बाबर

की लड़की ज़ुहरा तक पर उसके बाप की प्रवृत्ति और रुचि का प्रभाव पड़ा था। उसने अपने नाम का एक उद्यान आगरा के निकट बनाने का आयोजन किया था। बाबर की चाह से सिंच कर उद्यान-निर्माण-कला उर्वरा तो हो गई, पर उसने उनके काल में खुल-खिले फूल या पुर-पके फल उत्पन्न नहीं किए। उनकी उत्पत्ति आगे चल कर हुई। तब तो उनसे रंग और रस ले कर हिन्दुस्तान की धरती स्वर्ग से होड़ लेने लगी। बाबर के परपोते जहाँगीर ने मानों अपने परदादा का सौन्दर्यप्रेमी दिल, धुला, मँजा, चोखा, विरासत में पाया। प्राकृतिक सौन्दर्य की उन्हें कुछ ऐसी परख थी, कि उनकी आँखें बराबर मार्मिक रेखाओं का पीछा करती थीं और मार्मिक बिन्दुओं पर आ टिकती थीं। पुष्प-पल्लव की चादर या शाल ओढ़े वृक्षों के बीच में पड़ कर, वह चर से अचर बन जाते थे, अपने को भूल जाते थे।

उनके ताज, तख्त, तन, मन, सब की रानी नूरजहाँ का भी उन्हें बेल बूटों लता-लतिकाओं का शैदाई बनाने में हाथ कम न था। जहाँगीर के प्रेम-तपस्या की वह खिली कली थीं। वन-उपवन में खिलनेवाली कलिकाएँ उनकी छोटी बहिनें थीं। वह उनकी मान प्रतिष्ठा को अपनी मान-प्रतिष्ठा समझती थीं। यह नूरजहां की इच्छा की ही विजय थी, कि काशमीर मुग़ल दरबार का ग्रीष्म ऋतु में विहार स्थल बन गया। काशमीर के सौन्दर्य-सागर में डूब कर जहांगीर ने तुज़ुगे-जहाँगीरी में एक जगह यह लिख दिया, कि समझ में नहीं आता, कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ। जब किसी को रंग, रूप और गंध का रहस्य एकदम समझ में आ जाता है, तब यह दशा होती

है, कि कुछ भी समझ में नहीं आता। फूलों से जहांगीर को कुछ ऐसा लगाव था, कि वह लगाव पागलपन से मिलता-जुलता था। कहते हैं, कि साबरमती के पास ख़ानख़ाना के बनाए हुए बाग़ में किसी ने चम्पा के कुछ पौदे काट डाले, तो जहांगीर को ऐसा रोष आया, कि उन्होंने यह हुक्म दे दिया, कि "अपराधी के अँगूठे काट डाले जाएँ"।

तख़्त पर बैठने से बहुत पहिले जहांगीर को बाग़ लगाने का ख़ब्त हो गया था। उदयपुर में उनके इस लहलहाते ख़ब्त के हरे-भरे प्रमाण मिलते हैं। वहाँ उन्होंने सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व कई उद्यान उगाए थे। शहंशाह होने पर तो उन्होंने एक उदार, विराट माली की तरह, हिन्दुस्तान का आँचल न्यारी-न्यारी पत्तियों से और न्यारे-न्यारे फूल-फलों से भर दिया। पहाड़ों में, मैदानों में, हर जगह उनके लगाए हुए बाग़ पाए जाते हैं।

काशमीर का वाह बाग़, लाला रुख़ बाग़, शालामार बाग़ और वैरीनाग बाग़, इसी तरह लाहौर का शाहदरा और आगरा का इतमालउद्दौला समाधि-उद्यान, सब जहाँगीर के बारहमासी वसंती मनमौज की बहार हैं। शालामार में जहाँ-गीर के दिल की मुराद .खूब बर आई। इसके एक ओर पहाड़ी है और दूसरी ओर डल झील। लगभग एक मील लम्बी और बारह गज़ चौड़ी नहर द्वारा, पानी के फुव्वारों में स्नान करते हुए उद्यान को जहाँगीर ने झील से जोड़ कर ऐसा कर दिया, मानो पानी, फूल, पत्तों का मेला हो गया हो। बाग़ के साफ़ तीन भाग हैं—बाहिरी, भीतरी और बीचवाला। झरने के सिर पर शहंशाह का संगमरमर का सिंहासन अब भी मौजूद

है। दीवानेआम है और दीवानेख़ास भी । मुसलमानी ढंग के नयनसुख वस्तुओं की भरमार में भी कोई न कोई हिन्दू नुक़्ता मिल ही जाता है, जो दर्शक को हिन्दू-मुस्लिम एकता की याद दिला देता है।

फ़्रांसीसी यात्री बर्नियर ने शालामार बाग़ का बखान करते हुए, बारादरी के चार द्वार का विशेष उल्लेख किया है। उसने लिखा है, कि खंभों पर खड़े हुए, यह कुछ ऐसा एलान करते मालूम देते हैं, कि जिस ख्याल पर इनकी हस्ती क़ायम है, वह ख्याल किसी शिवालय से लिया गया है। वैरीनाग बाग़ में एक किनारे हिन्दू मन्दिर बना है। आसफ़ खां का काश्मीर में बनाया हुआ निशात बाग़ ख़ास मुग़लिया शान रखता है। फिर भी उसमें कहीं न कहीं हिन्दू कला की कली खिली दिखलाई पड़ ही जाएगी। पर जहांगीर के पिता अकबर के काल में जो बाग़ बने, उनमें उस महान सम्राट के स्वतंत्र विचारों और स्वतन्त्र भावों के प्रभाव के कारण, हिन्दू और मुस्लिम परम्पराओं का स्वतन्त्र सम्मेलन हुआ। उसकी मिसालें हमारी एकता की अमरता को ख़ूब सिद्ध करती हैं। अकबर ने अपने मन के उपवन लगाने में ईरान और तूरान के मालियों तक से सहायता ली थी। पर हिन्दू कला की छटा को भी उन्होंने अपने उद्यानों में प्रवेश करने से रोका नहीं था। सिंकदरा बाग़ ही लीजिए। उसके निर्माण में मेरु पर्वत की कल्पना की पुट ऐसी लगती है, मानों हिन्दू नन्दनवन से किसी प्यारी हवा के झोंके के साथ एक सुन्दर विचार आया और सिंकदरा बाग़ में समा गया। हिन्दू कला का चमत्कार सब से अधिक उन मुस्लिम बाग़ों

में देखने को मिलता है, जो चाँदनी रातों में प्रकृति, आत्मा, परात्मा, परमात्मा सब का आनन्द लूटने के लिए बनाए गए हैं। बाबर ने भी महताब बाग़ बनाया था। पर वह चौथ के चाँद का-सा था। ऐसे बाग़ की पूरनमासी तो अकबर के युग में हुई। राजपूत रानी योधाबाई की इच्छानुसार जो महताब बाग़ बनाए गए, उनमें हिन्दू कला ने चार चाँद लगा दिए।

संगीत

गुनगुनाना, गाना, गाकर हंसना, गाकर रोना, यह हमारे जीवन के उजले और उदास कलापूर्ण पहलू हैं, जिनमें हम बराबर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रमाण पाते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत एकदम सनातनी हिन्दू चीज़ है। पर सदियों का सफ़र करके, जब इसका हिन्दुस्तान की ही ज़मीन पर आगन्तुक मुसलमानों से सम्पर्क हुआ, तब बिना इसकी भीतरी बनावट, इसकी अध्यात्मिकता, परिवर्तित हुए, इसका खूब विकास हुआ। और यह मुस्लिम कानों को उससे भी अधिक भाई, जितनी कि हिन्दू कानों को भाई थी और इसने मुस्लिम सम्राटों के दरबारों को उससे भी अधिक गुंजरित और झंकृत किया, जितना कि ऋषियों की गुफ़ाओं और कन्दराओं और इन्द्र के अखाड़े को गुंजरित और झंकृत किया था। कौन जानता है कि किस मिश्री और चाँदी के बने कंठ से, कौन से सुरीले समय में, कैसी लहराती हुई अदा से, हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म हुआ और फिर यह कैसे असंख्य ध्वनि से झनझनाने वाला वाणी

का जाल बन गया। सरस्वती के चित्र में हम वीणा देखते हैं और वीणा के तारों पर देवी की उँगलियाँ, पर मुँह बंद। बोलने वाली उँगलियों और चुप्पी साधनेवाले मुँह का सहयोग कैसा? यह गान विद्या की पूरी तसवीर नहीं है।

कहावत है, कि शिवने नृत्य, संगीत और नाटक तीनों कलाओं की रचना की। उन्हों ने नाचा, गाया और अभिनय किया। विष-भरे कंठ से उन्होंने अमृतवर्षा की, यह बात यदि सत्य है, तो सचमुच सुन्दर है—शिवं तो है ही। कुछ हिन्दू कथाओं के अनुसार विख्यात गाने-बजानेवाले ऋषि भरत ने संगीतकला अप्सराओं को सिखाई। अप्सराएँ स्वर्ग में नाचा करती थीं। उनके साथ मिल कर गंधर्व गाने गाया करते थे और किन्नर बाजे बजाया करते थे। आदमज़ाद को तो आज-यहाँ कल-वहाँ बास करने वाले घुमक्कड़ नारद मुनि ने संगीत सिखाया। भला हो उनका। अद्भुत रामायण में एक अद्भुत कहानी है। कहते हैं, कि नारद मुनि अपने को संगीत कला की नस-नस पहचानने वाले समझने लगे थे और घमंड से उनका सिर आवश्यकता से अधिक ऊंचा हो गया था। आवश्यकतानुसार उसे नीचा करने के लिए विष्णु उन्हें देवलोक में ले गए। वहां बहुत से प्राणी छटपटाते और सिर धुनते दिखाई दिए। विष्णु ने पूछा, "आप लोग कौन हैं और क्यों आर्तनाद कर रहे हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "हम राग रागनी हैं। हमें अनाड़ी रागी नारद ने अंगभंग करके अत्यन्त पीड़ित किया है। हमारा क्लेश निवारण तब तक नहीं हो सकता, जब तक महादेव से कुशल रागी आकर हमारा उद्धार न करें।" कथा का कहना है कि यह सुनते ही मानों नारद मुनि पर घड़ों पानी पड़

गया—वह पानी-पानी हो गए। पर सच तो यह है, कि उनके सिखाए हुए इल्म के जादू से इस लोक के वासी ऐसी बढ़िया ध्वनि की धरती और गगन बनाते हैं, जिसका अन्य लोक के वासियों को अनुमान नहीं हो सकता।

वैदिक साहित्य में अनेक बाजों का उल्लेख है। अजीब-अजीब नाम आते हैं। परिचित, लोकप्रिय नामधारी कुछ बाजे अभी तक चले आते है। दुन्दुभि, औदुम्बर, वनस्पति, आघाति, कर्करी, नादी, बाकुरा वान, वीणा—इनमें से बहुत से लोप-से हो गए हैं। रामायण के काल के भी सभी बाजे सर्वथा जीवित नहीं हैं। भेरी, मृदंग, घट, पणव-अनक, डिड्मिम—इनमें से एक दो ही अधिकतर दिखाई देते हैं। आजकल के बाजों की भीड़ में मुसलमान बादशाहों के ज़माने के बाजों की खासी चहल-पहल होती है। यही तो हमारी मिश्रित संस्कृति की छवि है। इस मिश्रण में भी संगीत के सिद्धांतों की पुरानी शुद्धता मुख्य अंशों में वैसी ही बनी रहती है, जैसी कि पाणिनि के ग्रामर की मार्मिक शुद्धता और इस शुद्धता पर विशेष कर मुसलमान गवैये ऐसा नाज़ करते हैं कि क्या कोई मनुष्य किसी चीज़ पर करेगा। व्याकरणाचार्य पाणिनि की, उपरोक्त उपमा के सिलसिले में, चर्चा करते हुए, यह ख्याल आया कि उन्होंने भी अपने किसी ग्रन्थ में संगीत का ज़िक्र किया है। सा-रे-गा-मा-पा-धा-नी की गूँज के इससे भी अधिक पुराने प्रमाण मिलते हैं—ईसा के पैदा होने के चार सौ बरस पहले की लिखी हुई एक किताब में। यदि उससे पूर्व पैथागोरस ने ग्रीस में संगीत को, नियमों में बाँध कर, मनमोहक विद्या बना दिया था, तो हिन्दुस्तान में उससे भी पूर्व सामवेद गाने वाले मंजे-सधे गलेबाज़ों ने संगीत को, साज-संयम की कसौटी पर कस

कर, कला के सिंहासन पर नहीं तो साधारणासन पर तो अवश्य बिठा दिया था।

वैदिक बाबा के जटाजूटों के समान हिन्दुस्तानी संगीत बड़ा पुराना है। इसकी गंभीरता और इसकी गहराई इसके पुरानेपन से होड़ लेती है। ग्रीक संगीत और हिन्दुस्तानी संगीत में कुछ एक-सी बातें मिलती हैं। दोनों की बुज़र्गी बड़े बड़े मर्मज्ञों की चुलबुली खोजी बुद्धि को हैरान करने वाली बुज़र्गी है। कौन पक्की तौर से कह सकता है, कि किसने किससे कब क्या लिया। मौर्य वंश के राज्य काल में—ईसा के जन्म के लगभग तीन सौ बरस पहिले—हिन्दुस्तान संगीत और पर्शियन संगीत ने आपस में लेनदेन की—बुलबुल की चहक कोयल की कूक से मिली। हिन्दुस्तानी और पर्शियन गानों में जितनी समता है उतनी हिन्दुस्तानी और चीनी या जापानी गानों में नहीं।

गांधार, अर्थात् कांधार, का प्रदेश प्राचीन काल में ग्रीक और हिन्दुस्तानी संस्कृतियों का संगमस्थल था। क्या गांधार स्वर का उससे कोई सम्बन्ध है? कला कौशल की पुरानी रिश्तेदारियों में दिलचस्पी रखने वाले लोगों का कहना है कि ग्रीक मिक्सोलीडिक और डोरिक सप्तकों और कुछ पुराने हिन्दुस्तानी सप्तकों का एक ही कुनबा था। इस भूलभुलैयाँ से निकल कर, जब हम रामायण और महाभारत के खुले मैदान में आते हैं, तब हम संगीत को और खुले रूप में पाते हैं लक्ष्मण सुग्रीव के घर में प्रवश करते हैं, तो गवैयों के मधुर कंठस्वर के साथ ही वीणा की मधुर ध्वनि सुनते हैं। पंडित रावण वेदों को ऐसे गाकर पढ़ते हैं, कि शिवजी

लोट-पोट हो जाते हैं। महाभारत में सातों स्वर और गांधार ग्राम का स्पष्ट वर्णन है।

संगीत दिशा के बंधन को नहीं मानता—हवा के कंधों पर सवार होकर दिग्विजय करता है। उत्तरी हिन्दुस्तान में ही नहीं, दक्खिनी हिन्दुस्तान में भी संगीत का जनता के हृदय पर राज्य था। बहुत पुराने तामिल साहित्य में बहुधा इसकी स्तुति पाई जाती है—अनेक तामिल पुस्तकें संगीत का गुण गान करती हैं। सातवीं और आठवीं सदी में दक्खिनी हिन्दुस्तान में रसराग भरी भक्ति की हवा चली। लोगों के अंग-अंग मस्त होकर झूम उठे, और लोगों के रोम-रोम से राग-रागिनी निकलीं। उस समय संगीत का खूब प्रचार व प्रसार हुआ। नए गीत बने और नए ढंग से गाए गए। शिक्षित और संयमित कंठों की सभी पुरानी करामातों का मज़ा हमें आज नहीं मिल सकता। पर कहते हैं, कि ट्रावंकोर ने कुछ पुराने छन्दों की ऐसी मिठाइयां, जिनका स्वाद तृप्त संगीत प्रेमियों को भी चटखारे लेने पर विवश कर दे, रख छोड़ी हैं।

बारहवीं सदी में जब हम दक्खिन से उत्तर को वापस आते हैं, तब पहिली बार हमारी एक ऐसे रागी से भेंट होती है जिसके नाम-ग्राम का हमें ठीक-ठीक पता लगता है। इसके पहिले तो हम इतिहास के घटाटोप अन्धकार में टिप्पस की लकड़ी के सहारे चलते थे। इन रागी महाशय का नाम जयदेव था और इनका जन्म बोलपुर के पास केन्दुला में हुआ था। इनकी मौलिकता "गीत गोविन्द" बन कर सुनहले शरबत की गंगा-सी बही और उसने, करोड़ों हृदयों को सींच कर, उनका तार-तार मीठा बना दिया। मुरलीधर की मुरली

की तान और नाचती राधा की पैंजनी की झंकार इसमें मिल कर प्रेम और शृङ्गार की नस-नस को नचाने वाली पुकार बन गई। तेहरवीं सदी के प्रारंभ में संगीताचार्य सारंगदेव हुए, जिनकी योग्यता और निपुणता से बड़े-बड़े योग्य और निपुण गवैये दंग रह गए। वह देवगिरि के यादववंशी नरपति के दरबार में प्रतिष्ठित थे। पर उन्हें केवल दक्खिनी हिन्दुस्तान के संगीत के शरीर और आत्मा का ही पूरा ज्ञान नहीं था, वह उत्तरी हिन्दुस्तान के संगीत का गठन और गुण भी भली-भांति जानते थे। उनकी नामी पुस्तक, संगीत-रत्नाकर, के पन्ने इस बात के गवाह हैं। उन्होंने उत्तरी और दक्खिनी दोनों परिपाटियों के अंतर्गत जो साझे का सिद्धांत है उसकी विवेचना की है। हिन्दुस्तान के उत्तर में पर्वत है और दक्खिन में समुद्र—पर हिमालय और हिंदसागर एक दूसरे से भिन्न और दूर होते हुए भी गाने में मार्मिक दृष्टिकोण से एक दूसरे से अभिन्न और अदूर हैं। हिन्दुस्तानी संगीत के इस पत्थर और पानी को एक करने वाले जादू ने मुसलमान विजेताओं पर भी, जो हिन्दुस्तान में आकर यहां के शासक बन गए, गहरा प्रभाव डाला और उनके जीवन के ताल और स्वर को हिन्दुस्तानियों के जीवन के ताल और स्वर के साथ मिला दिया। इस विचित्र लीला में हिन्दुस्तानी संगीत भी अपने शाही प्रेमियों के प्रभाव से प्रभावित हुआ। इसकी कहानी हिन्दू और मुसलमानों के एकमल कलेवर की कहानी है—यह कहानी बड़ी सुहानी है।

चौदहवीं सदी के शुरू-शुरू की बात है। उस समय सुल्तान अलाउद्दीन का हिन्दुस्तान में राज्य था। सुल्तान अलाउद्दीन के लिए विश्राम, आनन्द, चेतनता सबका साधन संगीत था।

उनका मुसलमान हृदय, हिन्दू स्वर सुनकर, हुमकता और हुलसता था। सौभाग्य से उन्हें एक ऐसा सर्वगुणसम्पन्न दरबारी मिल गया था, जो राजनीतिज्ञ और योद्धा ही नहीं किन्तु कवि और गायनाचार्य भी था। अमीर ख़ुसरो राज्य-व्यवस्था की गाड़ी चलाने में सुलतान की, कविता करते और गाते-बजाते, सहायता करते थे। उनका गाना बजाना पुरानी लकीर के फ़क़ीर का गाना-बजाना नहीं था। वह एक नए हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के सूर्योदय का सन्देश था, जिसमें हिन्दुस्तानी पक्षियों के गीत के साथ पर्शियन चिड़ियों की ग़ज़ल मिली हुई थी। अमीर ख़ुसरों ने क़व्वाली बनाई—एक नई चीज़ बनाई—और उसके गाने की चलन चलाई। वह चलन ऐसी चली, कि आज क़व्वाली बाजेगाजेवाली हिन्दुस्तानी वाणी का सर्वप्रिय रूप बन गई है। यह, क्या हिंदू, क्या मुसलमान, सबकी गोष्ठियों को अपनी तरंग में लेकर हिलाती, डुलाती, झुमाती है।

अमीर ख़ुसरों को कई नवीन रागों की सृष्टि करने का श्रेय दिया जाता है। सितार को, जो वीणा की छोटी बहिन है और जो ज़रा उससे कम शृङ्गार और कम नख़रे करती है, कदाचित अमीर ख़ुसरो ने ही बनाया था। अब तो वीणा की वाणी कम सुनाई देती है, सितार का ही सितारा बुलन्द है। पार्वती-महादेव, राधा-कृष्ण सभी देवी-देवता के वंदन और मनोरंजन के लिए अमीर ख़ुसरो की पुत्री सितार आगे आती है। अमीर ख़ुसरो हिंदोस्तानी संगीत-कला के अद्वितीय पंडित थे। उन्होंने जो गाने का ज्ञान प्राप्त किया और जो गाने की

मर्मज्ञता दिखाई, वह हिन्दुस्तानी मुसलमान संगीतज्ञों के वंश ने विरासत में पाई और वह अभी तक उनके पास है। यह हिंदू मुस्लिम ऐक्य अन्दोलन के लिए एक पौष्टिक पदार्थ है। जब अमीर ख़ुसरो ने संगीत के दंगल में विजयनगर के विख्यात गवैये श्री गोपाल नायक को बुरी तरह परास्त किया, तब हमारे नए संस्कृति की, जिस पर आज सारे हिंदुस्तानी नाज़ करते हैं, अच्छी तरह विजय हुई। अमीर ख़ुसरो ने क़व्वाली के अतिरिक्त और भी राग रचे। उन्होंने तराना बनाया और बहार बनाया। तराना हिन्दुस्तानी जीवन को तरंगित करता है, तो बहार उसमें बहार लाता है।

× × × ×

जैसे आठवीं सदी में दक्खिनी हिन्दुस्तान में भक्ति-भाव उमड़ पड़े थे, वैसे ही सोलहवीं सदी में उत्तरी हिन्दुस्तान में उनका भभर कर उभार हुआ था। जगह-जगह संकीर्तन और नगरकीर्तन होते थे। इससे संगीत सार्वजनिक जीवन में शब्द-शहद सा समा गया था। संगीत का और भी सौभाग्य था, कि ऐसे काल में हिन्दुस्तान के सिंहासन पर भावुक, सहृदय कला-प्रेमी, गाने पर हज़ार जान से निछावर होने वाले, मुग़ल सम्राट अकबर आरूढ़ थे। ऐसे तो बाबर को भी संगीत का बड़ा शौक़ था। पर अकबर का गाने-बजाने के साथ इश्क़ जनून के दर्जे तक पहुँचा हुआ था। तानसेन, जिनकी तान ने कृष्ण-प्रिय जमुना को मंत्रमुग्ध करके, उसकी रवानी रोक दी और बुझे दीपकों में जान डाल कर, उन्हें जगमग जला दिया, अकबर के सराहनीय जनून की ही खोज थे। नवरत्न-जड़े अकबरी दरबार में तानसेन वाणी और ध्वनि से जगत को

चकित करने वाले रत्न थे। अकबर संगीत का सुख लूट कर ही तृप्त नहीं हो जाते थे। वह स्वयं नक्क़ारा बजाते थे और नक्क़ारे की चोट पर संगीतज्ञों के मजलिस में शामिल होते थे। रागरानी के दरबार में सदा उन्होंने अपने को दास समझा और जिज्ञासु दास को भाँति ही वह, अनुपम राग का दुर्लभ प्रसाद लेने के लिए, तानसेन के गुरु हरिदास स्वामी की कुटिया में गए।

कहानी यूं है। अकबर ने तानसेन से कहा, "कहिए ताल और तान के स्वामी, कहीं कोई आप से भी अच्छा गानेवाला है?" तानसेन ने उत्तर दिया, "हाँ, जहांपनाह, वृन्दावन में जमुना के तट पर मेरे गुरु हरिदास स्वामी रहते हैं। उनकी विद्या के सामने मेरी विद्या सिर नवाती है।" अकबर ने कहा, 'उन्हें बुलाइए।" तानसेन ने उत्तर दिया, "वह तो ब्रह्मा के बुलाने पर भी नहीं आवेंगे। यदि आप उनका बेनज़ीर हुनर देखना चाहते हैं, तो आपको उनके यहाँ जाने का कष्ट उठाना पड़ेगा।" जिसके इशारे पर विभूतियाँ नाचती और गाती थीं, उस महान मुग़ल सम्राट ने, संगीतप्रेम से उन्मत्त होकर, एक अल्हड़ कृष्ण भक्त की तान सुनने के लिए, सहर्ष वृन्दावन को यात्रा की। हरिदास स्वामी ने अपने पुराने शिष्य और शिष्य के नए साथी का तपाक से स्वागत तो किया, पर गाने से साफ़ इन्कार कर दिया। तब तानसेन ने एक चाल चली। उन्होंने स्वयं एक तान छेड़ दी और आलाप लेने में सरिहन त्रुटि क़र दी। हरिदास स्वामी के मर्मस्थल में चोट लगी। शुद्ध-स्वर्ण-सा-सच्चा गवैया गाली बर्दाश्त कर सकता है, पर गाने में ग़लती बर्दाश्त नहीं कर सकता। "यूं नहीं यूं", कह कर,

हरिदास स्वामी गा चले। उन्होंने यकायक रसनद बहा दिया और उसमें वह स्वयं बहने लगे। शनैः शनैः यह रसनद रससागर बन गया। उसकी रागभरी तरंगें वातावरण में तरंगित होकर अकबर से कहती थीं, "पश्य कौतूहलं" और अकबर यह कौतूहल देख-देख कर अपने मन में कहते थे "अल्लाहो अकबर!" सम्मिलित हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का यह कैसा दिव्य दृश्य था।

जब अकबर तन्मय वृन्दावन से लौटे, तो मार्ग में उन्होंने सहसा सजग होकर तानसेन से पूछा, "आप इतना अच्छा क्यों नहीं गाते?" तुरन्त तानसेन ने जवाब दिया, "क्योंकि मैं आपकी आज्ञा के अनुसार गाता हूं और हरिदास स्वामी अपनी अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार गाते हैं।" तानसेन का यह तीव्र तर्क उनके तने तान-सा तीखा था। पर उसकी तिखाई में शत प्रतिशत सच्चाई नहीं थी। तानसेन को गाने और गाने में संशोधन और परिवर्तन करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इस स्वतंत्रता के सहारे मियां तानसेन की प्रगतिशील कुशलता ने पुराने रागों को नए रूप दिए और संगीत के नए अंग की उत्पत्ति की। इससे, बिना पक्के सिद्धांतों को कोई क्षति पहुंचे, गानविद्या देवी की कोख और भरी। मियां की टोडी और मियां की मल्हार एक ऐसी बहार लाई जो आज तक बनी है। अकबर के काल में पर्शियन ग़ज़लों को पक्के रागों के रास्ते पर चलाने का प्रयत्न किया गया, पर राही के खातिर रास्ता नहीं बिगाड़ा गया। मियां तानसेन और उनके अनुयायियों ने प्राचीन संगीत के मूल-मंत्र को—उसके तह के नियमों को—आंच नहीं लगने दी। उनका कान्हड़ा से अमिट

लगाव इसका साक्षी है। अकबर .खुद दरबारी कान्हड़ा पर जान देते थे।

सच तो यह है, कि प्राचीन संगीत ऐसी विज्ञान और कला के भस्म से मंजी हुई प्रखर बुद्धि की उपज है, कि उसमें कोई कायापलट करने वाला संशोधन या परिवर्तन हो ही नहीं सकता। उसके अटल नियमों के घेरे के अंदर वाणी और ध्वनि, जो उछल-कूद करना चाहे, कर ले। अकबर के मशहूर मंत्री राजा मानसिंह ने एक विशेष ध्रुपद ढंग का गाना प्रारंभ किया—पर उससे वयोवृद्ध हिन्दुस्तानी संगीत की ज़रा भी मानहानि नहीं हुई। अकबर के दरबार में हिन्दू ही नहीं, ईरानी और तूरानी गवैये भी थे। पर वह सब एक ही कला के उपासक और उसके चमत्कार के प्रकाशक थे। अकबर दक्ष कलाकार कुलवन्त लाल और बयन लाल से, हिंदी भाषा का मर्म समझने के लिये, पाठ पढ़ा करते थे। प्राचीन संगीत के रहस्य का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद अकबर ने दो सौ पर्शियन रागों में—जिनमें से जलालशाही और नौरोज़ी सर्वोत्तम समझे जाते हैं—नई जान डाल दी।

अबुलफ़ज़ल ने अकबर के दरबार के तीन दर्जन आलिम-फ़ाज़िल और चपल-चतुर गवैयों के नाम दिए हैं। उनकी लम्बी लिस्ट में तानसेन, कुलवन्त और बयन के अतिरिक्त बाज़ बहादुर, हसन खां, और महापट्टव के नाम आते हैं। कैसा बढ़िया हिन्दू-मुस्लिम हीरों का यह हार है। बाज़ बहादुर मालवा के राजा थे। अकबर ने इन्हें, एक हज़ारी मनसबदार बना कर अपने दरबार में रख लिया था। यह गाते अच्छा थे, सुधारस बरसाते थे और उन पर अकबर

रीझकर चांदी और सोना बरसाते थे। अकबर को जो संगीत की लत थी, उस लत की स्वास्थ्यकर छूत उनके दरबार के अमीर-उमरावों को भी लग गई थी। यदि अकबर ने, मियां तानसेन के गाने पर लट्टू होकर, उन्हें दो लाख रुपये भेंट कर दिये, तो अब्दुररहीम मिर्ज़ा ख़ानख़ाना ने, रामदास के गाने पर मस्त होकर, उनके हाथ में एक लाख रुपए का पुरस्कार रख दिया। हुनर, हुनर-पसंदी और हुनर-परस्ती की संजीवनी पाकर, बढ़ा और खूब बढ़ा। आज जिस संगीतनिधि के हिन्दुस्तानी मालिक हैं, वह हिंदू-मुस्लिम सहयोग का एक नैसर्गिक प्रसाद है।

पुत्र ने पिता से संगीत को प्यार करना सीखा। जब अकबर की मृत्यु के बाद, जहांगीर हिन्दुस्तान के राजतख़्त पर बैठे, तब संगीत रानी को,जिस ऊँचे सिंहासन पर वह बैठी हुई थीं, उसी पर उन्होंने बैठे रहने दिया। यही नहीं, जहांगीर ने इस ललित कला कामिनी के साथ गहरा शाही प्रेम-व्यवहार भी जारी रखा। जो रीति अकबर ने चलाई थी, वह चलती रही। मुग़ल दरबार में सप्ताह के सात दिन मानो सातवें आसमान से उतरे हुए किसी सप्तारा बाजे के सात तारे थे, जो ज़ुदा-जुदा आनन्द प्रदान करते थे। अकबर की तरह जहांगीर ने भी दरबारी गवैयों के सात दल बना दिए थे। एक दल एक दिन, तो दूसरा दल दूसरे दिन—इसी तरह बारी-बारी सातों दल गाते थे। हफ़्ते महीनों को और महीने सालों को संगीत-मय बना कर हिन्दुस्तानी जीवन में सांस्कृतिक एकता का राग भरते थे।

जहांगीर को स्वयं संगीत विद्या में पटुता प्राप्त थी और

वह वाद्य की बारीकियों के ऐसे पारखी थे, कि धीमी ध्वनि में छिपी-हुई ख़ामियां भी उनसे छिपी नहीं रह सकती थीं। उन्होंने अपने लड़के .खुर्रम के भेजे हुए बाजा बजाने वाले उस्ताद मुहम्मद नई की उस्तादी से खुश होकर उनको कई हज़ार रुपयों की थैली दी। शौक़ी से तो वह इतने प्रसन्न थे कि तुज़के-जहांगीरी में उन्होंने इन कलाकार महोदय का ज़िक्र करते हुए, इन्हें अपने ज़माने का जादूगर बताया है। शौक़ी को जहांगीर ने "आनंद खां" का ख़िताब दिया था। यह ख़िताब ही हमारे मिल-जुल घुल-मिल संस्कृति का एक शीरीं गीत है। मुसलमान कंठों से हिंदू स्वरों का तार निकलना, या मुसलमान उंगलियों से हिंदू ध्वनियों की धार बहना सचमुच खां-श्रोत से आनंद-सरिता के फूट पड़ने के समान है।

जहांगीर के बाद शाहजहां ने अपने वालिद की प्यारी संगीत-कलाजान को सुसज्जित और सम्मानित रखा। उन्होंने एक बार दीवाने खास में एक शानदार संगीत-सम्मेलन किया। मशहूर फ्रांसीसी घुमक्कड़ महाशय ट्रैवरनियर, जो इन दिनों दिल्ली में थे, फरमाते हैं कि शाहजहां स्वयं गाने-बजाने की गोष्ठियों में भाग लिया करते थे। अल्लाहताला ने उन्हें बड़ी मीठी आवाज़ दी थी। उसे संगीत के संयम में कस कर, वह कमाल के रागी बन गए थे। जब उनके कंठ के अंतस्तल से सुरीले सांस के बादल, निकल-निकल कर, महफ़िल पर छा जाते थे, तब ऐसा समा बंध जाता था, कि जीवनमुक्तावस्था प्राप्त सूफ़ी और संत वज्द में आकर सुध-बुध खो बैठते थे। कलाकार कलाकार को समझता है और उसका मान करके

सुख पाता है। रागी रामदास को शाहजहाँ ने मानों अपने पलकों पर बिठाया और रागी जगन्नाथ को तो उन्होंने सोने के बट्टों से तोला और वह सारी धनाराशि उन पर चढ़ा दी। पर उनके लड़के औरङ्गज़ेब के मन में कुछ ऐसी प्रबल प्रतिक्रिया हुई कि, जब वह शासक बने, तब वह मन में न रह सकी और बाहर आगई। उस प्रतिक्रिया का ऐसा करारा चक्र चला कि संगीत रानी दरबार से तो बहिष्कृत हो ही गई, उनके लिए बाहर भी कोई ढंग का ठौर-ठिकाना नहीं रहा। संगीत-कला के अनुयायियों, उपासकों और प्रेमियों ने, औरङ्गज़ेब के हृदय को पिघलाने की आशा से, गानविद्या का जनाज़ा निकाला। बाजों की अर्थी लिए, मातम करते, जब वह जानबूझ कर राजमहल के पास से गुज़रे, तब औरङ्गज़ेब ने करुण-क्रन्दन सुन कर पूछा, "यह किस का जनाज़ा है?" आर्तनाद करने वालों ने कहा, "आलीजाह, संगीत का।" औरङ्गज़ब ने यह सुन कर कहा, "अच्छा! तब तो क़ब्र खूब गहरी खोदना।"

पर संगीत की साँस संसार की साँस के साथ है। वह प्रलय होने पर ही पट होगी। संगीत में औरङ्गज़ेबी क़ब्र क्या भगवानी रसातल से उठ आने की शक्ति है। औरङ्गज़ेब के इस लोक से कूंच करने के बाद मुग़ल साम्राज्य का यह हाल होगया कि अब मिटा और अब मिटा। संगीत अपने पुराने ठाठ-बाठ और मिठास के साथ मुग़ल दरबार में फिर आ डटा। अट्ठारहवीं सदी के प्रारम्भ में अंतिम मुग़ल सम्राट शाह आलम के पास एक नहीं, दो नहीं, अनेक कीर्ति और कांति वाले रागी इकट्ठे हो गए थे। मुग़ल शाहों और शहंशाहों को भी तो उनके बिना रहा नहीं जाता था। संगीत उनके मांस-मज्जा में समा गया था। आदरंग और सादरंग ऐसे संगीतज्ञ

शाह आलम के दरबार की शोभा बढ़ाते थे। इन्हीं मुग़ल सम्राट के समय में गायनाचार्य शोरी ने हिन्दुस्तानी गाने के टप्पे राग को दोष-रहित आकर्षक रूप दिया। इन्हीं दिनों कई पर्शियन और हिन्दू तर्ज़ों का कर्णमृदु मिलन हुआ। पर प्राचीन संगीत के सिद्धान्तों की मौलिकता, विशेषता और विचित्रता अछूती ही रही। संगीत-कला सदियों तक मुसल्मान सम्राटों के छत्रछाया के नीचे बसी रही और वह सदियों तक मुसल्मान कलाकारों के कोमल कण्ठों में क्रीड़ा करती रही तथा उनकी सुन्दर उँगलियों पर नाचती रही। आज भी वह मुसल्मान नवाबों और सखुनवरों के चाह, प्यार और नाज़बरदारी की उतनी ही सफल दावेदार है, जितनी कि हिन्दू राजों और हिन्दू कलाकोविदों के चाह, प्यार और नाज़बरदारी की। यह वह सुरभित सांसों के शरीर वाली परी है, जो अपने रसराग भरे सन्देश से अनमने मनों को मिलाती है और हमारे बेसुरे जीवन को सुधार कर ठीक ताल पर ले आती है।

चित्रकारी

हमारे चित्रकारों की लचकीली कूचियों के सपाटों में और उनके विविध रंगों के बहाव में हमारे लिए एक सुन्दर संवाद छिपा है। हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता, ऐतिहासिक ही नहीं, सांस्कृतिक सचाई भी है, जो सदा हिन्दुस्तानी जीवन में शक्ति और स्फूर्ति भरती रहेगी। यह ऐक्य-गुण चित्रों की रेखाओं में रेंगता है और उनके रंगों में निखरता है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की यह नुमायश देखने के लिए, मुग़ल काल के चित्रों की नुमायश देखनी होगी। सभी कलाओं की तरह, चित्रकला का स्वभाव भी चंचल, मिलनसार, लेनदेन करने वाला होता है। वह अपने व्यवहार से एक देश के अनेक भागों को ही नहीं, किन्तु अनेक पड़ोसी देशों को एक ही तरह की लकीरों से बांध देती है, और एक ही तरह के रंगों से रंग देती है।

बौद्धकाल की भारतीय चित्रकला का प्रभाव नदियों को तैरते, पहाड़ों को छलांगते, मैदानों को पार करते, उत्तर में

तुर्किस्तान तक और पूरब में चीन तक ही नहीं, बल्कि पच्छिम में बग़दाद तक पहुंच गया था और उसने अब्बासी ख़िलाफ़त के काल की चित्रकला पर अपना रंग जमा दिया था। अजंता के गुफ़ाओं की छाप अब्बासी ग्रन्थों पर क्या खूब पड़ी थी! वह किताबें आम तौर से तसवीरों से सजी-सजाई और रंगी-रंगाई होती थीं। उनमें ऐसे चित्र देखने को मिलते हैं, जिन में भारतीय मुखमण्डल, अंग-आकृति और वस्त्राभूषण का साफ़ और सच्चा चित्र खिंचा हुआ है। अरब देश के बाज़ार हैं, पर उनमें, भारतीय वस्त्र पहिने हुए और गौतम बुद्ध की तरह आसन लगाए हुए, साधु बैठे हैं। उनका चेहरा-मुहरा और उनकी पोशाक चित्र में अंकित अरबों के चेहरे-मुहरे और पोशाक से बिलकुल भिन्न हैं। और भी भारतीय सूरतें इस में चमकतो और दमकती दिखाई देती हैं। रंगविरंगे कटिवस्त्र और सुनहले कड़े उनकी भारतीयता का पूरा-पक्का प्रमाण हैं। एक मन्दिर के पास एकत्रित अनेक व्यक्ति ऐसे लगते हैं, मानों अभी अजंता की गुफ़ा से चले आ रहे हैं। इन्सान की दिलदारी और रुहानियत अपनी तसवीर संसार के सामने रखने से रुकती नहीं, चाहे कितने ही नकार के बन्धनों में वह जकड़ दी जाय।

इस्लाम ने मुसलमानों को जानदार चीज़ों की तसवीर खींचने से परहेज़ करने का सबक़ दिया। इस का आशय यह था कि भूल कर भी बुतपरस्ती की तरफ़ मुंह न करना। इस्लाम के अनुयायियों ने उस आशय को अपने हृदयों और आत्माओं में स्थान दिया, पर धार्मिक आदेश के उस शाब्दिक बन्धन को स्वीकार नहीं किया जो रचनात्मक क्रिया को नष्ट कर दे। उन्होंने बुतपरस्ती की ओर पीठ कर के .खूब तस-

वीरें खींची। उन्होंने फूल-पत्तों को ही क़ाग़ज़ पर अमर बना कर तृप्ति नहीं प्राप्त की। काग़ज पर उन्होंने अरबी घोड़े और ऊंट दौड़ाए और ऐसे दौड़ाए कि संसार के अन्य सारे चित्रकारों के घोड़े और ऊंट कोसों पीछे रह गए। मेसोपटामियां के चित्रकारों के घोड़े और ऊँट लाजवाब हैं। अब्बासी ख़लीफ़ों की छत्रछाया के नीचे उनकी कला और बढ़ी, वह पशुओं के क्षेत्र से निकल कर, मनुष्यों के जगत में आई और उसे उनकी जो बातें भाईं, वह उसने कूची और रंग की सहायता से कह सुनाईं। इस व्यापार में उसने कोई रोक-टोक न मानी। और तो और, बग़दाद की चित्रकला ने अजंता की गुफ़ाओं के अजनबी प्राणियों तक को अपना लिया।

तेरहवीं सदी के मध्य में पर्शिया में टिड्डीदल की तरह मंगोल आए और वह पुरानी संस्कृति के रंग चाट गए। पर जो वीरानापन उन्होंने पैदा किया, उसमें उन्होंने एक नई संस्कृति की खेती लगाई, जो जल्दी ही लहलहाई। मंगोलों का नामी नेता हलाकू अपने साथ सैकड़ों ऐसे चीनी कारीगर और कलाकार लाया, जिन्हों ने ईरान के आकाश पर नई रेखाएं खीच दीं और ईरान की धरती पर नए रंग बहा दिए। चौदहवीं सदी के प्रारम्भ होते-होते पर्शिया की चित्रकला बहुत कुछ चीनी-मंगोल ढंग और ढर्रे की हो गई। पूरी एक शताब्दी तक यह प्रायः ऐसी ही बनी रही। मंगोलों का राजपाट तहस-नहस हो जाने के बाद भी इसकी ख़ास-ख़ास चीनी-मंगोल अदाएं बनी ही रहीं। इसने बाद के पर्शियन चित्रों में, और एक तरह से मुग़लों के ज़माने के हिन्दुस्तानी चित्रों में भी, वह रेखाएं अंकित कीं जो लिपि-शैली की विशेषतायें हैं।

चौदहवीं सदी के यौवन-उतार के साथ ही मंगोल राज्य का ऐश्वर्य नष्ट हो गया। नई शताब्दी के आने में अभी कुछ देर थी पर एक नई शक्ति का उदय हो गया।

अमीर तैमूर उमड़ते-घुमड़ते बादल की तरह एशिया के एक बड़े भाग पर छा गया। पर्शिया इस बादल की छाया के नीचे आ गया। पर इस बादल में नाश की कालिमा ही नहीं थी, इसमें प्रोत्साहन की रुपहली झालर भी लगी हुई थी, और इसमें कला-प्रेमियों की प्यास बुझाने वाला रस भी भरा हुआ था। चुम्बक की तरह तैमूर ने अपनी राजधानी समरक़न्द में दूर-दूर से शायर, गवैये और फ़िलाफ़सर खींच लिए थे। उनके दरबार में किसी विख्यात चित्रकार की उपस्थिति का उल्लेख नहीं आता, पर उनके पुत्रों, पोतों और परपोतों की सुरुचि और सुस्नेह से सिंच कर चित्रकला पर्शिया में खूब फूली-फली। पंद्रहवीं सदी के अन्त में, जब ख़ुरासान में तैमूर के परपोते के पुत्र सुलतान हुसेन मिर्ज़ा का राज्य था, पर्शियन चित्रकला ऐसी चमकी जैसे मध्याह्न का सूर्य निर्मल आकाश में चमकता है। इसकी यह दिव्य कान्ति बेहज़ाद के उन प्रवीण उँगलियों की करामात थी, जिसने कूंचियों को ज़बान दे दी और रंगों में जान डाल दी। उसे एशियाई रेफ़ल कहते थे। रेफ़ल का जो योरुप पर उपकार है, उससे अधिक बेहज़ाद का एशिया पर उपकार है। उन्होंने रेखाओं और रंगों का एक नया मन्त्र अपने शिष्यों के कान में फूंक दिया। वह आग़ा मीराक़, सुल्तान मुहम्मद और मिरज़ा अली ऐसे बहुत से लायक़ शागिर्द चित्रकला की उन्नति करने के लिए, सिखा-पढ़ा कर, छोड़ गए।

पर गुरु गुरु ही थे। उनकी प्रतिभा की उड़ान तक भी उनके चले नहीं पहुँच सकते थे, उससे परे जाने की बात तो उनके लिए स्वप्न की बात थी। पर बेहज़ाद ने जिस नवीन चित्र-संसार की सृष्टि की उसका सारगर्भित सन्देश फैले बिना थोड़े ही रह सकता था। हिन्दुस्तान में मुग़लों के समय में, जो पर्शियन शैली के चित्र खींचे गए, उनमें बेहज़ादी कला की झलक दिखाई देती है—विशेष कर नर-नारियों के चित्र में। बेहज़ाद-युग के पूर्व पर्शिया में नक़्श-नयनों के चित्रण में विभिन्नता नहीं उत्पन्न की जाती थी। सभी मुँह-आँख प्रायः एक ही से बनाए जाते थे—वह काठ की पुतलियों के चित्र से लगते थे। भावभङ्गी में जो जीवन को प्रगट करने वाला भेद, मुग़ल बादशाहों की इच्छानुसार निर्मित, पर्शियन शैली के हिन्दुस्तानी चित्रों में पाया जाता है, उसमें बेहज़ाद का गुप्त हाथ है। सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में, सुल्तान हुसेन मिर्ज़ा की मृत्यु के बाद, बेहज़ाद ने पर्शिया के एक नए शासक शाह इस्माईल की संरक्षता में काम करना प्रारम्भ कर दिया।

शाह इस्माईल और ही ख़ानदान के, और और ही स्वभाव के आदमी थे। वह शिया थे और उनकी तबियत सूफ़ियाना थी। शराब की मस्ती की जगह उनके जीवन में भक्ति की मादकता ने ले ली और प्रेयसी के साथ प्रीति की जगह भगवान की लगन ने ले ली। इस रहस्य-रञ्जित भक्ति-पंथ का, जिसका श्रोत राज्यसिंहासन था, पर्शियन चित्रकला को प्रभावित करना स्वाभाविक था। यद्यपि विलक्षण बेहज़ाद की कला अछूती ही रही, उनकी श्रेणी में खड़े अन्य सारे कलाकारों पर इसका ख़ासा प्रभाव पड़ा। तैमूरी वास्त-विकता के साथ सूफ़ियाना आदर्शवाद का मेल हुआ—तैमूरी

लकीरें सूफ़ियानी लकीरों पर चलीं और तैमूरी रङ्गों ने सूफ़ियाना रंग पकड़ा। पर बाबर, जो हिन्दुस्तान में पर्शियन चित्रकला की लोच और कोमलता और उसकी बारीकियों और खूबियों को लेकर आए थे, तैमूरी परिवार से संबन्धित थे। इसलिए उन्होंने, जब यहाँ चित्रकला की नींव डाली, तो उस नींव के लिए लकीरें तैमूरी तरीक़े से और तैमूरी रङ्ग से खींचीं। सच तो यह है कि बाबर ने चित्रकला की नींव नहीं डाली, केवल सोई-हुई हिन्दुस्तानी चित्रकला को जगा दिया। इससे दो ढंगों से रेखायें प्रस्फुटित हुईं और रङ्ग खिले। एक पर्शियन ढंग कहलाया, दूसरा राजस्थानी। राजस्थानी ढंग में अजंता गुफ़ाओं के चित्रकारी की विशेषताएँ आ गईं—उन्हीं अजंता गुफ़ाओं के चित्रकारी की विशेषताएँ, जिनसे बग़दादी चित्रकला शताब्दियों पहिले कुछ अनमोल वस्तुएँ लेकर कृतकृत्य हुई थी। अजंता की गुफ़ाओं ने अतीत काल में सुदूर पर्शिया को, जो उन दिनों में आजकल से एक तरह अधिक निकट था, कुछ दिया ही नहीं था, उससे कुछ लिया भी था। उनमें एक ऐसा भी चित्र है जिनमें पर्शियन मुखड़े और पर्शियन लिबास उनका पर्शियनपन प्रदर्शित करते हैं—और एक ऐसा भी जिनमें से .खुसरो और शीरीं मानों उभर कर एक बहुत पुराने हिन्दुस्तान के उस पार की अनूठी प्रेम-कहानी सुनाना चाहते हैं।

पुलकसेन के राज्यकाल में दक्खिनी भारत के साथ दूर उत्तर में फैले पर्शिया का संपर्क था। इन देशों के राजदूतों का उन दिनों का आवागमन इस बात को सिद्ध करता है। पर अजंता की गुफ़ाओं में पर्शिया के प्रभाव के चिह्न नाममात्र के

हैं, वह उस समय की भारतीय चित्रकला की विचित्रता, विशुद्धता, प्रगल्भता और प्रौढ़ता को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। अजंता की शैली के चित्र कुछ और स्थानों में भी पाए जाते हैं। वह लगभग एक ही समय के हैं। उसके पहिले भी हिन्दुस्तान में चित्रकला किलोलें करती थीं। पर वह उसका बचपन था। जब वह जवान हुई, तब उसकी जवानी अनेक सच्ची, पक्की, अटूट रेखाओं में प्रस्फुरित होकर और कुछ नयनसुख, चटक, अमिट रंगों में परिणित होकर पत्थरों में उदय हुई और अमर हो गई।

अजंता काल से लेकर मुग़लकाल तक एक ऐसा शून्य काल है कि उसमें कूचियों की प्रगति का और रङ्गों के प्रवाह का कुछ ठीक पता नहीं चलता। मुग़लकाल में तो स्पष्ट हम पर्शियन शैली वाले और राजस्थानी शैली वाले चित्रकारों की कूंचियों के शिखरों पर और उनके रङ्ग की प्यालियों के प्रांगण में दो संस्कृतियों का सुन्दर और सुखकर सम्मेलन देखते हैं। यदि पर्शियन शैली के चित्रकारों को मूल प्रेरणाएँ पर्शिया से मिली थीं, तो राजस्थानी शैली के चित्रकारों को मूल प्रेरणाएँ अजंता की गुफ़ाओं से मिली थीं। इस तरह की विभिन्न प्रेरणाएँ उनके सम्मेलन में बाधक नहीं हुईं, उलटे सहायक हुईं। इसी को तो कलाओं का अनोखा चमत्कार कहते हैं। यह दो भिन्न पंथों के कलाकार अक्सर एक ही पथ पर चलते हैं, या कभी यह उसके पथ पर और वह उसके। तब उनकी कृतियाँ हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्मिलित संस्कृति की विजय-कीर्ति सी लगती हैं। ऐसी कृतियों की हिन्दुस्तान की चित्र-शालाओं में कमी नहीं है। वह हिन्दुस्तानी जीवन में एकता की रगों और एकता के रक्त के समान हैं।

× × × ×

बाबर की नसों में दो रक्त-धाराएं संगम बना कर बहती थीं—तुर्की और मंगोल। उनसे उनकी बुद्धि उर्वरा होकर एक विलक्षण चीज़ बन गई थी—जिसमें पराक्रम की कठोरता के साथ कला की कोमलता मौजूद थी। उन्हें कच्ची उमर में ही, अपने पिता उमर शेख मिर्ज़ा की मृत्यु हो जाने पर, फ़रग़ाना के तख्त पर बैठना पड़ गया—ऐसे तख्त पर जिसे उनके शक्ति और सत्ता के लोलुप अमीर-उमरावों के दीमक-से षड्यंत्र ने खोखला कर दिया था। एक दिन वह धसक कर बैठ गया और बाबर को, बेताज-तख्त ही नहीं, बेघरबार होना पड़ा। ऐसी विकराल विपत्ति की भयानक चुनौती का जो उन्होंने उत्तर दिया, उसने हिन्दुस्तान के इतिहास में एक नए युग की ज्योति जला दी। उन्होंने, हिन्दुस्तान के शासकों पर विजय प्राप्त करके, दिल्ली को अपनी राजधानी बनाने के लिए इस देश पर चढ़ाई की। पर वह अपने साथ तलवारें और तोपें ही नहीं लाए, किन्तु पर्शिया के बाह्य और आन्तरिक जीवन की शोभा और सरसता भी लाए—सुरभित पर्शियन साहित्य के और ललित पर्शियन कलाओं के नए-नए गहने भी लाए।

बाबर स्वयं कवि थे। उन्होंने चहकती ज़बान में एक दीवान लिखा और मुब्बयान नामी ढंग की कविता चलाई। वह कविता ही नहीं करते थे, गाते भी थे। नगरों और गांवों में, बनों और उपवनों में, बड़ी उदारता से अपना रूप-रुपय्या और जोबन-सोना लुटाने वाली प्रकृति के तो वह ऐसे पुजारी थे, कि जान जोखिम में होते हुए भी वह जान

बचाने की नहीं सोचा करते थे, बल्कि यह सोचा करते थे कि वह दरख्त कैसे नाज़-नखरे से खड़ा है और उसकी अनुपम अदा क्या कोई चित्रकार अदा कर सकता है। उनके पास चित्रकार को, काग़ज़ या कपड़े या दीवार पर जड़ या चेतन चीज़ों का अमिट प्रभाव डालने वाली, उंगलियां तो नहीं थीं, पर उनके पास चित्रकार की बाह्यपारखी और अन्तर्भेदी आंखें अवश्य थीं। बाबर के जीवन के वाक़यात से—अलवरवाली फ़ारसी की हस्तलिपि से—यह पता चलता है कि उनकी संरक्षता में हिंदुस्तान में कई चित्रकार काम करते थे। इसमें तो कोई संदेह नहीं, कि उन्होंने इस देश में पर्शियन चित्रकारी की चलन चलाई, जिसने यहां के वायुमण्डल में, यहां की कूची कला का साथ करके, एक नया रंग पकड़ा और जो उस नए रंग में प्रगट होकर इंडो-पर्शियन चित्रकला कहलाई। उसका विकास एकदम नहीं, धीरे-धीरे हुआ। वह सहज पकी और खूब मीठी हुई।

बाबर के मरने पर उनके साहबज़ादे हुमायूं जम कर तख्त पर नहीं बैठ पाये। तबियत उन्होंने अपने पिता की-सी पाई थी। उन्हें हुनर से और हुनरवालों से बेहद स्नेह था और वह अपने चारों ओर गुणों और गुणवानों की बस्ती बसाना चाहते थे। पर जब उनका सिंहासन ही बराबर डोल रहा था, तब वह कोई स्थिर कार्य कर कैसे सकते थे? आखिर उन्हें तख्त त्याग कर भागना पड़ा और पर्शिया के शाह तहमास्प की शरण में जाना पड़ा। पर मुसीबत ने अपनी काली गांठ में उनके लिये रत्न बांध रखे थे। वह उसने पेश कर

दिये। हुमायूं ने उन दिनों पर्शिया में कमाल की कला देखी और कमाल के कलाकार देखे। उनके उन दिनों के कला-संसार में भ्रमण, निरीक्षण, अनुभव, मेल जोल और जान पहचान ने उनके व्यक्तित्व का उत्थान ही नहीं किया, किन्तु उनके फिर से हिंदुस्तान का बादशाह बनने पर, इस देश की चित्र-कला का खूब नया शृङ्गार भी किया। उस शृङ्गार को हिंदुस्तानी क़ौम आज भी अभिमान से संभाले बैठी है।

जिस समय हुमायूं ने पर्शिया में पनाह ली, उस समय लकीरों और रंगों में प्राण फूकने वाले चित्रकार बेहज़ाद जीवित नहीं थे। पर उनकी अमर कृतियां और उनके कौशल का थोड़ा-बहुत नमूना दिखाने वाले, उनकी चमत्कारिक कूची के चिह्न पर कूचियां चलाने वाले, उनके चतुर चेले तो उपस्थित थे। हुमायूं जब बेहज़ाद की रचनाओं को देखते थे और उनके शिष्यों से मिलते थे तो उन्हें दिल्ली में राजगद्दी पर बैठ कर उसी तरह की दुनिया बसाने का सपना आता था। तबरेज़ में उनकी मीर सैय्यद अली से भेंट हुई। मीर साहब की गिनती उन दिनों के नामी चित्रकारों में होती थी। उन्होंने अपना बचपन बेहज़ाद की शागिर्दी में बिताया था और तन्मय होकर यह सीखा था कि उनके गुरुदेव कैसे काग़ज़ के एक शून्य टुकड़े को अनेक विशाल दृश्यों और अगाध भावों से भर देते थे। हुमायूं की मीर सैय्यद अली के साथ ख़ासी घनिष्ठता हो गई। इस तरह शीराज़ के मशहूर चित्रकार ख्वाजा अब्दुस्समद के साथ भी उनका सरस सम्बन्ध हो गया। ख्वाज़ा अब्दुस्समद केवल दक्ष चित्रकार ही नहीं थे, खरे खुशनवीस भी थे।

जब हुमायूं ने हिंदुस्तान का खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त करने के पूर्व काबुल में डेरा डाला, तब उन्होंने इन दोनों प्रवीण कलाकारों को अपने पास बुला लिया। मीर सैय्यद अली को हुमायूं ने सचित्र दास्ताने अमीर हमज़ा तैयार करने का काम सौंपा। इस काम में ख्वाजा अब्दुस्समद ने अपने साथी चित्रकार का हाथ बटाया। दोनों के कलापूर्ण परिश्रम का परिणाम एक ऐसा तसवीरों का तारतम्य था, जिसका बांकापन और चोखापन मुग़ल शैली का खज़ाना बन गया। मीर साहब और ख्वाजा साहब ने जिन चित्रों से मुग़लों की शिशुवत चित्रशाला को अलंकृत किया, वह नव-जात मुग़ल चित्रकला के होनहारपन का भव्य और दिव्य प्रमाण थे। हुमायूं ने, कई साल और बड़ा बाहुबल व्यय करने के बाद, हिन्दुस्तान की हकूमत की छिनी-हुई बागडोर छीनने वालों से छीन पाई। दुर्भाग्य यह कि उन्हें तख्त पर फिर से बैठे हुए कुछ महीने ही हुए थे कि मौत ने दरवाज़ा खटखटाया। वह अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरे और चल बसे। उनकी दिल की दिल में ही रह गई। पर न उनके कलाकार मित्र मित्रहीन हुए, न उनकी कला सहेली साथी-रहित हुई।

हुमायूं के सुपुत्र अकबर ने कलाकारों और कलाओं से प्रेम करने का पाठ अपने पिता से पढ़ा था। और तो और, बाप बेटे ने कुछ दिनों तक एक साथ ही चित्रचित्रण की विद्या सीखने का प्रयास किया था। अकबर ने कला का जो दीपक हुमायूं के हाथों से लिया, उसमें उन्होंने अपने प्रगाढ़ प्रेम का और तेल डाला और अपने उत्कट इच्छा की और

बत्ती डाली। तभी तो अकबर के युग में ऐसा निर्मल और स्निग्ध प्रकाश हुआ कि उससे आकर्षित होकर उसमें मुस्लिम और हिन्दू दोनों संस्कृतियां आ बैठीं और कई अवसर पर एक दूसरे से ऐसी लिपटीं कि अन्तर अनुभव करना असम्भव हो गया। पर हुमायूं की सहसा मृत्यु हो जाने पर कुछ ऐसी उथलपुथल हुई, कि अकबर का रोबदाब लगभग पन्द्रह साल तक पूरी तरह जम न पाया। सिंहासन पर अकबर बैठे थे, पर सिंहासन के ऊपर बैरम खां छाए हुए थे। इसके अलावा कभी कहीं अवज्ञा आंखें दिखाती थी और कभी कहीं विद्रोह सिर उठाता था। उनको दबाने के लिए तलवार चलानी पड़ती थी और खून बहाना पड़ता। जिस काल में सैनिक के खड्ग का दबदबा फैला हो उस काल में कलाकार की कूची की कान्ति नहीं छा सकती। जहां लोगों का रक्त फैला हो, वहां चित्रकारी के रङ्गों की बहार नहीं आ सकती। कलह का काल कला का काल नहीं हो सकता।

देशव्यापी लड़ाई-झगड़ों के समय भी हुमायूं के ज़माने के चित्रकार मीर सैय्यद अली और ख्वाजा अब्दुस्समद अकबर के दरबार में काम करते रहे, पर चूंकि अकबर का ध्यान बँटा रहता था और उनका मन उचाट रहता था, इसलिए दरबारी चित्रकला ठप-सी ही रही। सब से पहले अकबर के खिलाफ़ बग़ावत का झंडा बुलन्द करने वालों में एक मुँहज़ोर, जल्दी क़ाबू में न आने वाला सरदार अब्बुलमा अली था। उसकी गिरफ़्तारी का अकबरनामा में ज़िक्र है। इस दग़ाबाज़ सरदार को एक आलीशान दावत में शामिल होने के लिए बुलाया गया। वह आया, बैठा और हाथ धोने के लिये आगे

हुआ। बस पीछे से तेज़ और मज़बूत अकबर के हिमायती तुलुक ख़ां कोची ने उसे धर दबोचा और बन्दी बना लिया। चित्रकार अब्दुस्समद ने इस घटना का वर्णन बोलती-हुई रेखाओं और रङ्गों की सहायता से किया है। शाह अब्बुलमा अली की तुलुक ख़ा कोची द्वारा मुश्कबन्दी का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उसमें दोनों के शारीरिक अवस्था की तुलना के अतिरिक्त दोनों के उत्तेजित भावों की भी तुलना की है और अच्छी तुलना की है। इसमें पर्शियन कला का ही प्रसार है।

मीर सैय्यद अली ने जिस काम के पूरा करने का बीड़ा हुमायूं के समय में उठाया था वह अभी उसी के सम्पादन में संलग्न थे। वह अमीर हमज़ा को आधा सचित्र बनाने के बाद हज करने चले गए। हज से लौटने के बाद वह फिर अकबर के दरबार में सुशोभित हो गए। पर अमीर हमज़ा का शृङ्गार पूरा करने का काम ख्वाजा अब्दुस्समद को सौंप दिया गया था, जो उन्होंने यथा समय पूरा कर दिया। मुग़लकाल की चित्रकला की रेखा-रची और रंग-भरी नींव को इन शुद्ध पर्शियन चित्रकारों ने ही पुष्ट बनाया। पर उस पर जो नए हिन्दू-मुस्लिम रेखाओं के मनोहारी कौतुक हुए और जो नये हिंदू-मुस्लिम रंगों की आकर्षक रंगरेलियां हुई, जिन पर हम हिन्दुस्तानियों का सम्मिलित सांस्कृतिक जीवन सदा सधा रहेगा, वह उन अनेक हिन्दू और मुसलमान चित्रकारों के अतुलनीय कौशल और अथक परिश्रम का परिणाम है, जिन्होंने शान्तिकाल में अकबर के असमानता में समानता और निरसता में सरसता पैदा करने वाले प्रभाव के अन्तर्गत काम किया।

× × × ×

चित्रकला, साहित्य, संगीत को अकबर जीवन का रूप-रंग, विकास और वाणी समझते थे। उन्होंने अपने दरबार को नौ रत्नों का हार पहिना कर अपने युग की, आँखों को चकाचौंध और अक़्ल को दंग करने वाली, उन्नति की मशाल बना दिया था। उन्होंने बुख़ारा और समरक़ंद का सानी शहर, फ़तेहपुर सीकरी बसा कर, चोखी-चटक सभ्यता की विभूतियों से ऐसे विभूषित किया था, कि वह विद्या और कला के हाजियों का मक्का बन गया था। यहां और तो और, उनके महल की दीवारें, जिन पर पर्शियन और हिन्दू चित्र-कारों ने अपनी-अपनी पसंद और अपने-अपने ख़्याल के मुताबिक तसवीरें रची थीं, एक नए, अजीब ढंग से उपजती हुई, मनोहर संस्कृति की कहानी कहती थीं। जब अकबर ने चित्रकला को अपनाया और उसकी उन्नति करने की ठानी तब उनका अभिप्राय अपने गौरव को .खूब गोरा करना नहीं था, किन्तु अपनी आत्मा की .खूब तृप्ति करनी थी। उन्होंने तो एक बार कहा भी था कि कूची के सहारे खुदा तक पहुंचना और रेखा और रंग के द्वारा भगवान् की अपरम्पार महिमा का ज्ञान प्राप्त करना आसान है। जीवन की मूल एकता में, जिसमें जैनमतानुयायी, चीनी और जापानी कला-कारों का विश्वास था, शायद अकबर भी विश्वास करते थे। कदाचित् इसीलिए दरबारी चित्रकला उनकी रहनुमाई में धीरे-धीरे हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता की, आरसी ही नहीं, आला बन गई।

अकबर ने बाक़ायदा बहुत से प्रखर बुद्धि और मंजे हाथों वाले चित्रकार काम पर लगा रखे थे, जिनके काम की वह हर हफ़्ते जांच-पड़ताल और निरख-परख किया करते थे।

लकीरों और रंगों के नए चमत्कार दिखाने वालों को वह सुन्दर पुरस्कार प्रदान किया करते थे। वह उनकी दशा और गति में इस हद तक दिलचस्पी रखते थे, कि मसालों के जोड़-जुटाव और रंगों के मेल-मिलाप के काम तक में भाग लिया करते थे। अकबर के दरबार के चित्रकारों की सूची खासी लम्बी है। इस सूची की चोटी पर तो पर्शियन चित्रकाराचार्य मीर सय्यद अली और "शीरीं-कलम" ख्वाजा अब्दुस्समद दो चांद से चमचमाते हैं, पर उसमें तारों-से जड़े कई हिन्दू चित्रकार भी जगमगाते हैं। इन हिन्दू चित्रकारों में दसवन्त और बसावन का नाम बहुत रोशन था। दसवन्त एक अनाड़ी पालकी उठाने वाले का लड़का था। तीव्र और तीक्ष्ण दृष्टिवाले अकबर ने इस नवयुवक में प्रतिभा की झलक देखी, बस उसे ख्वाजा अब्दुस्समद का शिष्य बना दिया। थोड़े ही समय में अव्वल दर्ज़े की तसवीर बनाना दसवन्त के बाएं हाथ का खेल हो गया। बसावन ने ज़मीन बनाने, मुखाकृति खींचने और रंगों के प्रयोग में निपुणता प्राप्त की। अकबर के ज़माने के चित्रकारों की पाँति, जिसमें हिन्दुओं की भरमार थी, बड़ी चमकती-दमकती थी। भगवती, केसू, ज़ाल, मुकुन्द, मुशकीन, मधु, जगन, महेश, तारा, हरिवंश और राम—एक एक से बढ़-चढ़ कर चित्रकार थे। जहां इस तरह की हिन्दू और मुसलमान कलाकारों की मेला-मजलिस हो, वहां एक बहुरेखाई, बहुरंगी, पर मिली-जुली संस्कृति की उत्पत्ति स्वाभाविक ही है।

अब्बुल फ़ज़ल ने हिन्दू चित्रकारों की कूचियों की तारीफ़ करने में अपनी क़लम तोड़ दी है। कहा है, उनकी टक्कर के

कलाकार संसार भर में कहीं नहीं थे। यह तो सरासर ऐतिहासिक शोख़ी है। पर इसमें शक नहीं कि उन्होंने अपने कला के चमत्कार से कई मिट जानेवाले दृश्य और मर जानेवाले मनुष्य अमिट और अमर बना दिये और हिन्दुस्तान में एक ऐसी नई संस्कृति की नींव डाल गए, जिसने इस देश के जीवन की विभिन्नता में बसी एकता को अचल और अटल बना दिया। हिन्दू चित्रकारों ने अपने राजा के मन के अनुकूल तसवीरें बनाने में पर्शियन चित्रकारों की रीति पूरी तरह निभाई, पर उन्होंने यहाँ की कला की विशेषताओं की पुट भी उनमें कहीं-कहीं लगा दी। उन विशेषताओं के प्रभाव से तो मुसलमान चित्रकार भी सदा और सर्वथा न बच सके। अकबर के चित्रागार में काम करनेवालों में एक यह भी प्रथा प्रचलित थी कि तरहा (ख़ाका) एक चित्रकार बनाता था, तो अम्ली (उसको रङ्गों से भरने का) काम दूसरा चित्रकार करता था। कभी-कभी तो उसी तसवीर में तीसरे चित्रकार का भी हाथ लगता था। वह सूरत बनाता था। हिन्दू और मुसलमान कलाकार उसी एक तसवीर को तयार करने में बारी-बारी से लगते थे और इस प्रकार एक कलापूर्ण रचनात्मक कार्य में हिन्दू-मुस्लिम सहयोग का उदाहरण ही पेश नहीं करते थे, किन्तु एक ऐसी रंगीन विचित्रता की सृष्टि करते थे, जिससे शक्ति पाकर प्रलयकाल तक हिन्दुस्तानी जीवन अक्षुण्ण गति से सार्थक सहयोग के पथ पर चलता रहे।

अकबर ने जहाँ अपनी तसवीरें खिंचवाईं, वहाँ उन्होंने अपने समय के महान मुसलमान व्यक्तियों की ही नहीं, किन्तु महान हिन्दू व्यक्तियों की भी तसवीरें खिंचवाईं। जहाँ उनके

तसवीरख़ाने में हरात और शीराज़ सफ़वी और तैमूरी चित्र-कलाओं के अनेक मनोहर नमूने थे, वहाँ यहाँ के चित्रकारों के बनाए अगणित चितचोर चित्र भी थे। हमज़ा की कहानी, जो दस किताबों में फैली है, और एक हज़ार चार सौ पर्दों में बिखरी है, अकबर ने ग्यारह चित्रकारों से चित्रित करवाई। चंगेज़नामा, बहरिस्तान, बाबरनामा, खमसा, और अकबर-नामा को यदि अकबर ने चित्रों से अलंकृत करवाया, तो उन्होंने रामायण और नल-दमयंती की कथा को भी तो रंगभरी कूचियों से चमकवा कर अत्यंत रुचिकर बनवाया। महाभारत को भी उनकी आज्ञानुसार उनके चित्रकारों ने चित्रों से भर दिया। वह सचित्र महाभारत रज़्मनामा के नाम से मशहूर हुआ।

अकबर के काल के चित्रों पर दृष्टिपात करते समय सहसा फ़रुख़बेग के बनाए चित्र हमारे हृदय को अपनी ओर खींचते हैं। फ़रुख़बेग का परिवार मध्य एशिया से सम्बन्ध रखता था। जब फ़रुख़बेग ने अकबर के कलाभवन में पग रखा, तब वहाँ चीनी और मंगोल रेखाओं की परछाईं पड़ी और रङ्गों का असर पड़ा। उनकी शुरू-शुरू की तसवीरें इन चीज़ों की ओर संकेत करती हैं। उनका बनाया हुआ बाबर के दरबार का चित्र उनकी अपनी कला का बड़ा सुन्दर प्रतिबिम्ब है। वह कला शुद्ध हिन्दुस्तानी कला क्या, मिलावट वाली मुग़ल कला से भी भिन्न थी। पर जहाँ बाबरी दरबार के चित्र में चित्रित फूल-पत्तों की कतरन और ड्योढ़ी-महल की बनन से फ़रुख़बेगी विभिन्नता टपकती है, वहाँ उसके मुख्य द्वार पर अंकित व्यक्तियों की रूप-रेखा से हिन्दुस्तानीपन भी टपकता है। ज्यों-ज्यों दिन बीते त्यों-त्यों फ़रुख़बेग की कला में इस देश की

कला का रस समाया और उनके बाद के चित्रों में वह स्पष्ट प्रगट हुआ।

लगभग उन्हीं दिनों, जिन दिनों फ़र्रुखबेग हिन्दुस्तान में आए, एक और पर्शियन कलाकार, आक़ा रज़ा यहां पधारे। आक़ा रज़ा ने महाराजाधिराज अकबर के पास नहीं, किन्तु राजकुमार सलीम के पास नौकरी की। शाहज़ादा सलीम, शहंशाह जहांगीर बन कर, जब सिंहासन पर बैठे, तब आक़ा रज़ा के सुपुत्र अब्दुल हसन की कला खूब विकसित हुई और उनकी उँगलियों की सफ़ाई उनकी कीर्ति बन कर फैली। बेटे की कीर्ति ने बाप की कीर्ति को फीका कर दिया। पर बाप बेटे का उस्ताद था। अवश्य अपने जीवन काल में आक़ा रज़ा ने मुग़ल चित्रकला पर अपने गुणों का प्रभाव डाला होगा। कुछ इस देश की कला को दिया होगा, तो कुछ उससे लिया भी होगा इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की वृद्धि में आक़ा रज़ा सहायक हुए होंगे। पंद्रह साल तक सुन्दर, कोमल कलाओं को फतेहपुर सीकरी में प्यार और दुलार से पालने-पोसने के बाद अकबर सन् १५८५ में लाहौर आगए और यहीं रहने लग गए। इस तरह फतेहपुर सीकरी की साहित्यवाली आन-बान और कलावाली तड़क-भड़क कम हो गई।

अधिकतर कलाकारों को अकबर ने आगरा के क़िले में भेज दिया—जहां शहंशाह के उत्साह-वर्धक व्यक्तित्व की अनुपस्थिति में भी उनकी, कलासागर को मथ कर, नए-नए रत्न निकालने वाली उंगुलियां हरकत करती रहीं। पर उस हरकत में न पहिले की सी हरारत थी, न हो सकती थी। जिन थोड़े से चित्रकारों को अकबर अपने साथ लाहौर ले-

आए थे, उनका विशेष काम था महल की दीवारों को अपनी कला से चमकाना। अंग्रेजी यात्री फिट्ज़ ने, राजगृह की भीत पर परदार औरतों और सींगवाले आदमियों के चित्र देख कर, उनका आश्चर्यभरे भाव से अपने भ्रमण की कथा में उल्लेख किया है। यह परिएं और यह शैतान वहीं होंगे जो शवा की रानी के चित्रों में सदा ही उपस्थित रहते हैं। उनके परों पर पड़ा और सींगों पर सवार पर्शियन कला का प्रभाव अकबर के लाहौरी महल की दीवारों से दर्शकों को ताकता ही नहीं घूर-घूर कर देखता था। पर उनमें हिन्दुस्तानी कला के प्रभाव के चिह्न भी थे, यद्यपि वह इतने चटक नहीं थे, जितने कि छोटे-छोटे कागज़ या कपड़े पर अंकित चित्रों में।

अकबर के युग में हिन्दसागर की लहरों के साथ योरुप से वहां की लकीरें बह कर आईं और वहां के रंग घुल कर आए। उनका प्रभाव यद्यपि मुग़ल चित्रकला पर झूठ-मूठ ही पड़ा, फिर भी उस समय की संस्कृति के उत्थान में उनकी अठखेलियों का थोड़ा-बहुत अध्ययन तो आवश्यक हो ही जाता है। जब गोआ से कुछ ईसाई उपदेशक अपने धर्म की गरिमा बखानने के लिए अकबर के दरबार में आए, तो उन्होंने अपने धर्मग्रन्थों की सारगर्भितता के अतिरिक्त पश्चिमीय चित्रकला की छटा का भी बखान किया। कला-प्रेमी, और कला-छवि-खोजी अकबर ने हाजी हबीबुल्ला को नए रंगों और नई लकीरों की छानबीन करने के लिये गोआ भेजा। हाजी जी के मिशन की सफलता से एक नया मज़ा पैदा हुआ। अकबर ने मरियम को एक, मर्म-स्थल को छूकर भावों को आहिस्ता से जगानेवाली, तसवीर तो अपने पास बड़े प्रेम और प्रतिष्ठा से रखी ही, उनके चित्र-

कारों ने भी ईसामसीहादि की तसवीरों की उत्तम-उत्तम नकलें बनानी प्रारम्भ कर दीं। केसू ने तो उनका एक पूरा चारु और चोखा मुरक्क़ा तैयार कर दिया। पर यह पश्चिम से हल्की-सी बयार आई और चली गई। इसका पर्शियन-हिन्दुस्तानी चित्रकला की सूरत-सीरत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

सन् १६०५ में अकबर की मृत्यु ने मुग़ल चित्रकला के जीवन में एक विकट स्थिति पैदा कर दी। कूचियों के एक एक बाल ने अपना धर्म जान लिया था, पर उनकी लचक और लोच चरमसीमा को नहीं पहुंची थी। रेखाओं और रंगों के अक्सर ऐसे मेले होते थे, जिनसे हिन्दू और मुस्लिम प्रभावों का सम्मिश्रण साफ नुमाया होता था, पर वह अभी अधूरा ही था। हिन्दुस्तान के चमकदार कौतूहल-जनक सांस्कृतिक जीवन के इस अपूर्ण रंगीन अंग को पूर्ण करने के लिए एक ऐसे मुग़ल सम्राट की आवश्यकता थी, जिस का कला-प्रेम, अकबर के कला-प्रेम से कम न हो ज़्यादा ही हो। अकबर के पुत्र जहांगीर ऐसे सम्राट सिद्ध हुए। उनकी छत्रछाया के नीचे हिन्दू और मुसल्मान चित्रकारों की कूचियों में रेखाओं की ऐसी टहनियां निकलीं और रंगों के ऐसे फूल खिले जिन्हें हम संसार की अच्छी से अच्छी प्रदर्शनियों में रख कर निधड़क यह कह सकते हैं कि हम सदियों से शानदार ही नहीं हैं, एक भी हैं।

× × × ×

जहांगीर का सिंहासन पर बैठना चित्रकला के लिए दैवी प्रसाद था। उनके शासनकाल में रेखाएं खूब उभर आईं और रङ्ग खूब प्रस्फुटित हो उठे। मुग़ल चित्रकला का अकबरी

लडकपन—वह लड़कपन भी हृष्ट-पुष्ट लड़कपन था—जहांगीरी जोबन बनकर कलाक्षेत्र में छा गया—वह जोबन तो ग़जब का जोबन था। जहांगीर के ज़माने में चारों तरफ शांति फैली हुई थी। शांतिरस के ऐसे ही सर्वव्यापी छिड़काव से कलाओं में जान पड़ती है और वह, भरपूर विकसित होकर, समाज का गगनचुम्बी सांस्कृतिक उत्थान करती है। उस जनोत्थान में निम्न साम्प्रदायिक पख पचड़े और अड़ंगे फड़ंगे विलीन हो जाते हैं और तू-तू मैं-मैं के विकार की जगह हम-सब हम-सब का सुन्दर समां बँध जाता है।

अकबरी दिग्विजय के बाद, मुग़ल हुकूमत की धाक बँध जाने से, और उस हुकूमत की लोच और नरमी के कारण स्थायी शांति स्थापित हो जाने से, जहाँगीर को अपने पिता की चलाई चित्रकारी की छरी-छबीली तहरीक को हद तक पहुंचाने का बड़ा अच्छा मौक़ा तो मिला, पर वह मौक़ा मिट्टी में मिल जाता, यदि जहांगीर ने कला-प्रेमी सोने का हृदय न पाया होता। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक मिलनी की बुनियाद अकबर ने अपने समय में ही पक्की कर दी थी। जहांगीर ने उस के आधार पर हिन्दू मुस्लिम सांस्कृतिक विवाह रच दिया। जहां उन्होंने मंगोल और तुर्की रक्त अपने पिता से पाया था, वहां उन्होंने राजपूती रक्त अपनी माता से पाया था। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता का जीवित-जागृत उदाहरण थे। इस्लाम और हिन्दुत्व का उनके व्यक्तित्व में साफ़ सम्मेलन हुआ था। उनके रुचि, रुझान, विचार और आचार में विदेशी वास्तविकता के साथ देशी आदर्शवादिता मिली हुई थी। जहां वह अंदर की आंखें बन्द करके, बाहर की आंखों से

बाहर की चीज़ों का मज़ा लेना जानते थे, वहां वह बाह्य नयन बन्द करके, अन्तर्चक्षुओं से बाहरी वस्तुओं के तथ्य पर मनन करना भी जानते थे। अपने परदादा बाबर की तरह, वह भी हिन्दुस्तानी प्रकृति की अलबेली अदाओं पर और उसकी छवि-छितरन पर मरते थे, पर उनमें एक यह विशेषता थी, कि उनका इस देश के साथ गाढ़ा और अमिट लगाव था। होना ही था, एक तो वह यहां बस गए थे, दूसरे उनके नस-नस को राजपूतनी रक्त-तार ने हिन्दुस्तान से बांध दिया था। हिन्दुस्तान के हुस्न के हर एक पहलू का उनके कोमल हृदय-तंत्री पर ऐसा प्रभाव पड़ा करता था कि वह बज-बज कर उनकी आत्मा का आन्दोलित कर दिया करती थी।

जहांगीर स्वयं तसवीरें बनाना नहीं जानते थे, पर वह चित्रकारी के पेट में पैठ कर, वहाँ छिपे हुए रहस्य को समझनेवाले अनुरक्त ज्ञानी अवश्य बन गए थे। वह चुन-चुन कर अपने साथ चित्रकारों की सदा एक ऐसी टोली रखा करते थे, जो उन व्यक्तियों, वस्तुओं और दृश्यों के, जिनका उनके हृदयपट पर गहरा अक्स पड़ता था, कागज़ पर जीता-जागता चित्र उतार दें। जैसे अकबर के ज़माने के चित्रकारों की, अब्बुल फ़ज़ल द्वारा रचित, पूरी सूची मिल जाती है, वैसे जहांगीर के ज़माने के चित्रकारों का संतोषजनक ब्यौरा नहीं मिलता। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं, कि जहांगीर के मान्य और दक्ष चित्रकारों में भी कई हिन्दू कलाकार थे। विशनदास, गोवर्धन, केशव, मनोहर, माधव, तुलसी का दर्जा जहांगीर के ज़माने के कलाकारों में खासा ऊंचा था। यह ठीक है, कि उनके दरबारी चित्रकारों के नेता मध्य एशिया के

निवासी फ़रुख़ बेग थे, जिनका हाथ समरक़न्द के कलाकार मुहम्मद मुराद बटाते थे। पर उनमें बहुतायत हिन्दुस्तान के ही हिन्दू और मुसलमान चित्रकारों की थी, और उनके काम में इसी देश के जलचर, थलचर और नभचर प्राणियों और अचर पदार्थों की, आंखों को चकित करनेवाली और दिल को नचानेवाली, खूबियां प्रतिबिम्बित होती थीं। उस्ताद मंसूर ने जिन पशु-पक्षियों को अपनी कला द्वारा अमर बनाकर संसार भर में विख्यात कर दिया, उन्होंने अपने मूक बैन द्वारा हिन्दुस्तान की ही कमनीय कीर्ति का बखान किया।

अकबर जब युद्ध करने जाते थे, तब अपने साथ चित्रकारों को ले जाते थे। एक बार उन्होंने कूची के धनी कलाकार सावलदास, जगन्नाथ और ताराचन्द को तलवार के धनी सिपाहियों के साथ ग्यारह दिन में छः सौ मील दौड़ा दिया। कला ने राजपूताने की रेत फांकी। वहां के रेगिस्तान में अपना तन झुलसाया। और फिर सरनाल में जो मार-काट हुई उसका नक़्शा खींचा। जहांगीर भी चित्रकारों से दौरा करवाया करते थे। पर उनके दौरे की गति शान्तिकाल के आनन्द-मंगल की गति-सी हुआ करती थी—मानसरोवर में राजहंस के तैरने के समान। प्रकृति के पुजारी, सौन्दर्य के उपासक, जहाँगीर अपने मनको बराबर प्रसन्न रखने के प्रयत्न में बहुधा लम्बी-लम्बी यात्रा किया करते थे। ऐसे तो वह क़ंधार भी गए, पर जितनी बार वह काशमीर गए, उतनी बार क्या, उसकी आधी बार भी और कहीं नहीं गए। काशमीर के रूप को निहारते-निहारते वह शब्द-चित्र खींचने लग जाते थे। वह कहते थे : "फूल ने अपने बाल क्या बांधे, इंसान के दिल में गांठ लगा दी; बतख़ पानी में चोंच डालती है, मानों सोने की

क़ैंची रेशम का टुकड़ा कतरती है; गानेवाली शोख़ बुलबुल मस्ती के गाने गा-गा कर मदिरा-लोभी की प्यास भड़काती है।" कोई आश्चर्य की बात है कि ऐसे कवि-हृदय वाले बन्धन-मुक्त मुग़ल सम्राट ने अपने सिक्कों पर अपना सादा चित्र ही नहीं छपवाया किन्तु ऐसा चित्र भी छपवाया, जिसमें वह अपनी मनचाही चीज़ पीते हुए व्यक्त किए गए हैं।

सामाजिक और धार्मिक सहिष्णुता जहाँगीर के युग में राजनीति का एक अंग बन गई थी। जो बादशाह काशमीर के फूल-पत्तों को देख कर ऐसा लहालोट हो जाए, कि .खुद उन पर कविता करे और अपने चित्रकारों को आज्ञा दे, कि इनकी प्रतिच्छाया को आदरणीय अतिथि बना कर, काग़ज के वाहनों पर बिठा कर, राजधानी में ले चलो, उससे बढ़ कर हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक उन्नति करने वाला और कौन हो सकता था। एक ही अवसर पर जहांगीर ने उस्ताद मनसूर से सौ पुष्पों के चित्र खिंचवाए। न जाने और कितने मौक़ों पर और कितने फूलों की तसवीरें उन्होंने उनसे बनवाई होंगी। मनसूर के फूल इस जगत के भिन्न-भिन्न भागों में घटनाओं के झोंकों के साथ चले गए हैं। और जब हम आज अपने घर में वैमनस्य और बैर की बदबू फैला रहे हैं, तब वह लंडन परिसादि में हमारी पुरानी कला-पूर्ण एकता की सुगन्ध बिखरा रहे हैं।

जहांगीर ने दूर-दूर अपने प्रतिनिधि भेज-भेज कर बढ़िया-बढ़िया तसवीरें जमा कीं। भिन्न-भिन्न मुखड़ों का हूबहू चित्र खींचने में दक्ष चित्रकार बिशन दास को उन्होंने पर्शिया भेजा। हिन्दुस्तान का कला-भंडार भरने में उन्हों ने बड़े उत्साह से

चांदी और सोना खर्च किया। बेहज़ाद के शागिर्दों के खींचे हुए चार अनुपम चित्र उन्होंने पन्द्रह सौ रुपये देकर ख़रीदे। उस समय पन्द्रह सौ रुपये का जो अर्थ होता था वह आज, जब कि रुपए की मिट्टी-पलीद हो गई है, हमारी समझ में नहीं आ सकता। मुल्ला मीरअली के विचित्र कौतुकी हाथ की लिखी हुई युसुफ़ और ज़ुलेखां की सचित्र कहानी उन्होंने एक हज़ार मुहरें देकर खरीदी। आजकल तो पुराने ढंग के वज़नी मुहर का मुख देखना भी नसीब नहीं हो सकता। दूर देशों के चित्र-रत्न तो जहांगीर बड़े चाव से संचित किया ही करते थे, अपने देश के कलाकारों को भी वह दिन-रात रेखा और रंग के हीरे बनाने में लगाए रखते थे। अपनी निगरानी में, नवीन स्थितियों में, विविध विषयों पर चित्र खिंचवाया करते थे। जिन विदेशी चित्रों का जहांगीर ने संग्रह किया था, उनका दरबारी कलाकार बड़े ध्यान से अध्ययन किया करते थे और फिर उनकी खूबियों को अपने हुनर की उपज के साथ मिलाकर, रेखा और रंग की अजीबो-ग़रीब हिन्दुस्तानी दुनिया बनाया करते थे।

जहांगीर पग-पग पर तसवीर खिंचवाते थे। उनके जीवन की कहानी को, कलाकार की तूलिका ने, न जाने कितनी बार कितने ढंग से अंकित किया होगा। वह सभी कृतियां मिल जाएं और एक जगह रखदी जाएं, तो जहांगीर की जीवनी का विशाल और मनोरंजक चित्रपट बन जाए। जो भी, और जितने भी, ऐसे चित्र देखने को मिलते हैं, वही काफ़ी बड़ी कहानी कह देते हैं। जहांगीर, दिन भर यात्रा करने के बाद, किसी उद्यान में विश्राम कर रहे हैं। चारों ओर प्यारे पौदे

उगे हैं और मनमोहक फूल खिले हैं। बीच में, पौदे और फूल से रंगीन, गुदगुदे ग़लीचे पर बादशाह सलामत बैठे हैं और अपने साथियों से इधर-उधर की बातें कर रहे हैं। ग़पशप और ज़ीटज़पट के वातावरण में सहृदय और उदार बादशाह जहांगीर का चरित्र-चित्रण खूब जँचता है। ऐसे ज़री और रेशम की पोशाक पहिन कर भी, जिस पर से नज़र फिसल-फिसल जाती थी, और ऐसे जवाहरात से आरास्ता सोने के सिंहासन पर बैठ कर भी, जिससे आंखें चकाचौंध हो जाती थीं, जहांगीर के मन में फ़क़ीरों और सन्यासियों के लिए जो इज्ज़त और भक्ति थी, उस में कभी फर्क़ नहीं पड़ता था। किसी चित्र में वह अपने दरबार में शान से बैठे हैं और किसी चित्र में वह एक अर्धनग्न साधु के सामने सादर बैठे हैं। इन चित्रों की तुलना करने से पता चलता है कि शानदार भौतिकवाद कैसे सादे आध्यात्मवाद के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है। शहंशाह, ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती की दरगाह पर गए, तो अपनी सारी शाही शान बाहर रख कर दुआ के लिए उन की रूह के सामने हाथ फैलाए गए। महात्माओं के प्रति उनकी श्रद्धा पर किसी धार्मिक संकीर्णता की रोक-थाम नहीं थी। जैसे मानवसमाज के एक साधारण कण के समान वह बड़ी आजिज़ी से ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती की समाधि पर गए, वैसे ही आशीर्वाद के भिक्षुक के रूप में वह बड़ी विनम्रता से योगी जदरूप की कुटिया में गए। इन दोनों घटनाओं के चित्र हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक मित्रता के एक महान विजय की रंग में डूबी लकीरों वाली घोषणाएं हैं।

जहांगीर तसवीरें देखते-दिखाते और बनाते-बनवाते इतने प्रवीण हो गए थे, कि उन की आंखें लकीर के शरीर में प्रवेश करके और रंग के अंग में दाखिल हो कर भांप लिया करती थीं, कि वह किन की रचना है। उन्होंने अपने जीवन की कहानी में लिखा है कि चित्र देख कर, उन चित्रों के खींचने वालों का नाम बताने में उन्हें ऐसी पटुता प्राप्त हो गई थी, कि वह चुटकी बजाते नाम बता दिया करते थे। वह कहते हैं,"यदि एक चित्र में कई चेहरे हैं, तो मैं चटपट बता सकता हूं कि कौन चेहरा किस का बनाया हुआ है। यही नहीं, यदि एक ही चेहरे में आंखें किसी ने बनाई हैं, और भौंहें किसी और ने, तो मैं उनके अलग-अलग नाम भी बिना कठिनाई के बता सकता हूं।" एक ही चित्र में कई कलाकारों के बीच काम-बंटवारे की रीति,अकबर के काल से चल कर, जहांगीर के काल में आई थी। कला की निर्मलता की दृष्टि से चाहे वह रीति अच्छी न रही हो, पर हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक सम्मेलन की दृष्टि से अवश्य अच्छी थी। यदि मुसलमान चित्रकार लकीरें खींचता था, तो हिन्दू चित्रकार उनमें रंग भरता था। दो भिन्न-भिन्न हाथ जुड़ कर एक ऐसा काग़ज़ी दर्पण बनाते थे, जिस में आज हम हिन्दुस्तानी कई अंशों में अपनी सांस्कृतिक अभिन्नता देखते हैं।

जहांगीर को अपने जौहरीपन पर ही अभिमान नहीं था, उन्हें अपने कलाकारों के हाथ की कारीगरी पर भी अभिमान था। एक बार बृटिश एलची सर टामस रो से, जो हिन्दुस्तानी चित्रकारों की क़ाबलियत के क़ायल नहीं थे, कला के सम्बन्ध में बात करते-करते शहंशाह उलझ गए। उन्होंने कहा, "आप

किसी भी योरुपियन चित्रकार की बनाई हुई तसवीर दीजिए, मैं अपने चित्रकार से उस की ऐसी प्रतिलिपियां बनवा दूंगा, कि उनके बीच में रखे हुए मौलिक चित्र को आप पहचान न सकेंगे। अब यह बताइए कि यदि आप इस भूलभुलैयां में फंस गए, तो हमारे चित्रकार को क्या इनाम देंगे?" सर टामस रो ने कहा, "पचास रुपए"। शहंशाह आश्चर्यान्वित होकर बोले, "बस, कुल पचास रुपए। अच्छा, आप रुपए न दीजिएगा, कोई अच्छी सी चीज़ दे दीजिएगा।" सर टामस रो ने शहंशाह जहांगीर को किसी योरुपियन कलाकार की बनाई एक तसवीर दी और मुग़ल सम्राट ने उसकी नक़लें बनवाईं। नक़ली चित्रों के साथ असली चित्र मिला कर जब सर टामस रो के सामने पेश किया गया, तो उन्होंने उसे पहचान तो लिया, पर यह भी मान लिया, कि नक़ल की असल के साथ आशातीत समानता है।

पश्चिमीय कला की विशेषताओं को इतनी शीघ्रता और उत्तमता से समझने वाले और उनको अपनी पूर्वीय तूलिकाओं द्वारा सफलता से व्यक्त करने वाले हिन्दुस्तानी कलाकारों ने उसके चुटकले ग्रहण क्यों नहीं किए? ग्रहण तो किए, पर इसी तरह, कि कभी ईसा की तसवीर खींच दी, तो कभी मरियम की, कभी किसी तसवीर की ज़मीन पर कोई पश्चिमी पेवन्द लगा दी, तो कभी रात के दृश्यों में प्रकाश और साया का योरुपियन खेल दिखा दिया। हिन्दुस्तान की चित्रकला का योरुप की चित्रकला के साथ अकबर के ज़माने में कुछ सम्पर्क हुआ था। वह सम्पर्क जहांगीर के ज़माने में ज़रा गहरा हुआ। पर हिन्दुस्तानी चित्रकला की काया और

आत्मा दोनों ही हिन्दुस्तानी बनी रहीं। उस हिन्दुस्तानीपन में वह इस्लाम और वह हिन्दुत्व है, जिसको मुग़ल सम्राटों ने, अपनी प्रेम रस से भरी हृदय की गगरियों को उड़ेल-उड़ेल कर, सींचा और अमर बनाया है। जब जहांगीर संगमरमर की चादर ओढ़ कर, लाहौर के एक कोने में सदा की नींद सो गए, तब उनके मन में यह इच्छा जाग रही थी, कि जो हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति उनके शासनकाल में, जवान हो कर लोकप्रिय हो गई थी, वह सदा जवान रहे और सदा लोकप्रिय रहे।

× × × ×

शाहजहां भी, अपने पिता जहांगीर की तरह, कला के चाहने वाले थे। पर उनकी चाह कुछ और क़िस्म की थी। उनका मन तड़क-भड़क, चमक-दमक, शानो-शौक़त के पीछे बराबर भागता रहता था। वह इतना रङ्ग और रेखा से नहीं खेलते थे, जितना कि अमूल्य पत्थरों के गिप्पलों से, मुक्ता से, मणि से, नीलम से,लाल से,पुखराज से पन्ना से। उन्होंने तख्ते-ताऊस नाम का ऐसा सिंहासन बनवाया, जिसके जोड़ का सिंहासन न कभी कहीं था, न शायद कभी कहीं होगा। बस, राज्य-वैभव, कंचन-मोर का रूप धारण करके,और अपने पंखों को अमूल्य बहुरंगी हीरे जवाहरात से सजा कर, शाहजहां का वाहन बन गया। उसी तरह से, एक रजत-और-रत्न-रंजित शाही स्वप्न, ताजमहल बन कर, सच्चा हो गया। जिस शहंशाह की इच्छाएं और प्रवृत्तियां, इस तरह पत्थरों और धातुओं में जान फूंक कर, इतिहास को भौचक्का करनेवाले चमत्कार करने में लगी हों, उसके समय में यदि चित्रकला जहांगीरी ढंग के स्नेह या संरक्षता से वंचित रहे, तो कोई

आश्चर्य की बात नहीं है। शाहजहां ने दरबारी कलाकारों की संख्या कम कर दी और उनका काम भी कम कर दिया। पर अपने पूर्वजों की तरह उन्होंने मुसलमान चित्रकारों के साथ हिन्दू चित्रकार भी अपने दरबार में रखे।

शाहजहां के समय तसवीरों के फूल-पत्ती वाले किनारों में मनुष्यों की मूर्तियां बनाने की प्रथा चल गई थी। उनके मुख्य दरबारी चित्रकार, मुहम्मद फ़क़ीर उल्लाह खां, की तस्वीर के चारों तरफ सजावट के लिए उनके सहयोगी चित्रकारों के छोटे-छोटे चित्र चित्रित हैं, जिनमें चार मुसलमान हैं, तो तीन हिन्दू। जो कलाकार, शाहजहां ने छांट कर रख लिए, उनके जीवन-निर्वाह का ही नहीं, सुख-सम्मान का भी प्रबन्ध हो गया। बाक़ी बेचारों को अमीर-उमरावों का आश्रय लेना पड़ा। अब दरबार चित्रकला का एक मात्र केन्द्र नहीं रहा। उसके कई छोटे-छोटे अड्डे बन गए। शाहजहां के लड़कों में केवल दाराशिकोह ने चित्रों की चाह में चहकनेवाला चित्त पाया था। यदि वह तख्त पर बैठते, तो एक बार फिर मुग़ल दरबार में तरह-तरह के रंग में डूबी हुई कूचियों का मेला लगता। दाराशिकोह शाहजहां के सब से बड़े बेटे थे और औरङ्गज़ेब सब से छोटे। ताजो-तख्त विधाता ने औरङ्गजेब को दिया। उनके विश्वास, विचार, आदेश और अनुशासन ने दिल्ली के दरबार में कलाओं का टिकना कठिन कर दिया। ऐसे तो औरङ्गजेब की भी कई बढ़िया तसवीरें देखने को मिल जाती हैं—उदाहरणार्थ बीजापुर के महासरे की तसवीर—पर प्रायः सब बुढ़ापे की। सम्भव है बुढ़ापे में औरङ्ग़ज़ेब के संकुचित विचारों के बन्द कुछ ढीले पड़ गए हों। उन के मरने

के बाद, विशेष कर मुग़ल साम्राज्य के टूट-फूट जाने के पश्चात, चित्रकला भी तितर-बितर हो गई। थोड़ी सी लखनऊ चली गई, वह लखनऊ क़लम कहलाई; थोड़ी सी दक्खिन में हैदराबाद चली गई, वह दक्खिनी क़लम कहलाई; और जो दिल्ली में रह गई, वह दिल्ली क़लम बन गई। बहुत से हिन्दू कलाकार पटना पयान कर गए; उन्होंने वहां जिस तर्ज़ का काम किया वह पटना क़लम के नाम से मशहूर हो गया। जो कला हैदराबाद पहुंची, वह और बिखर कर, मैसूर और तंजोर तक पहुंच गई। इन सभी क़लमों में मुग़ल कूचियों के बाल और मुग़ल प्यालियों के रङ्ग लगे दिखलाई पड़ जाते हैं। पर जो थोड़ी बहुत पुरानी बात सचमुच रह गई, वह उन कलाकारों के काम में रह गई, जो दिल्ली में ही रह गए।

मुग़ल चित्रकला, पर्शियन चित्रकला के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त चित्रकला, जो अकबर के काल में बनने लगी, और जहांगीर के काल में बन गई, ऐसी हिन्दुस्तानी आरसी है, जिसमें हिन्दू और मुसलमान सब अपना मुंह देखकर खुश होते हैं। दारबनामा और बाबरनामा को चमकाने के लिए जो तसवीरें उनमें चस्पां की गई, उनमें पर्शियनपन थोड़ा और हिन्दुस्तानीपन बहुत है। कई तो तसवीरें खींची भी हिन्दुओं की हैं। जलालखां के महल में बाबर के दाखिले का दसराज द्वारा बनाया चित्र, जो लण्डन के अजायबघर में देखने को मिल सकता है, चिल्ला-चिल्ला कर अपना हिन्दुस्तानीपन दर्शाता है। महल की दीवारें आधे-नंगे मनुष्यों और सजे-सजाए हाथियों की मूर्तियों से अलंकृत हैं। राजगृह के निकट ही नगर का दृश्य चित्रित है—छोटे-छोटे मकान हैं, भैंसें हैं, बकरियां हैं। दृश्य में ही नहीं, दृश्य के चित्रण में भी हिन्दु-

स्तानीपन है। रज़्मनामा, अर्थात् महाभारत, (यह पुस्तक अब जयपुर की लाइब्रेरी में है) को सचित्र बनाने में केवल हिन्दुओं के हुनर ने ही हिम्मत नहीं दिखाई, मुसलमानों के कौशल ने भी काम किया। ख़ाका मुहम्मद शरीफ़ ने खींचा—कि निठुर नल दयनीय दमयन्ती को विकराल बन में त्याग कर कैसे जाते हैं—और रङ्ग उस में केसू ने भरा। मुसलमानों को हिन्दुओं के साहित्य का सार समझना न आता और हिन्दुओं को उनकी समझ पर भरोसा न होता, तो कैसे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का जन्म होता ?

तैमूरनामा में एक कमाल का दृश्य है—जो इस्लाम धर्म के भावों से चुहचुहाता लगता है। खींचा हुआ है यह दो हिन्दू चित्रकारों का—मधु कलां और तुलसी कलां का। और देखने को मिलेगा यह बांकीपुर की ओरियंटल लाइब्रेरी में। आकाश में चांदी की हंसिया-सा द्वीज का वक्र चन्द्र चपका है। शीतल दूध के छींटों-से उसमें तारे छिटके हैं। मस्जिद के मीनार गगन को चूमते मालूम देते हैं। दूर के दरख्त काले गुम्बदों-से और मस्जिद के गुम्बद सफ़ेद औंधे लट्टुओं-से अजीब छटा दिखाते हैं। मस्जिद की चौड़ी छत पर मोर-मोरनी का एक जोड़ा बैठा है। मस्जिद के आगे एक बाग़ है, उस में एक छोटी सी नहर बह रही है और एक नन्हा सा फव्वारा छूट रहा है। बाग़ के फूल-पत्तों और चिड़ियों से लदे वृक्ष मस्जिद के बड़े बढ़िया और बारीक काम से सजे दरोदीवार में खप कर, उपासनाघर की क्या शोभा बढ़ाते हैं ! एक थका मांदा पथिक सो रहा है, एक मौलवी साहब क़ुरान शरीफ़ खोले बैठे हैं, और हज़रत मुअज़्ज़िन मीनार की चोटी

से .खुदा के भक्तों को उच्चस्वर से सचेत कर रहे हैं। मस्जिद के मस्जिदपन से, नमाज़ी के नमाज़ीपन से, मौलवी के मौलवीपन से, मुअज़्ज़िन के मुअज़्ज़िनपन से, सारे वातावरण से यह सिद्ध होता है, कि इस चित्र के हिन्दू रचयिता इस्लामी संस्कृति के रङ्ग में हाथ के नाखूनों तक रंगे हुए थे।

प्रसिद्ध पर्शियन कवि जामी की बहारिस्तान नामक पुस्तक को, जिसकी प्रति मोडलीन लाइब्रेरी में है, चित्तरञ्जन बनाने वाले चित्रकारों में कई हिन्दू चित्रकार हैं। उसमें बसावन का बनाया हुआ शेख़ अबुल अब्बास क़स्साब और दरवेश का चित्र यह दिखाता है कि कैसे हिन्दू प्रतिभा, किसी सहृदय मुग़ल बादशाह से प्रोत्साहन पाकर, एक गंभीर मुस्लिम विषय के तह तक पहुंच सकती है और उसे तूलिका द्वारा सुन्दरता से व्यक्त कर सकती है। बसावन की बनाई हुई एक कमाल की तसवीर विक्टोरिया एराड अलबर्ट म्यूज़ियम में संभाल कर रखी हुई किताब अकबर-नामा में है, जिसे देख कर बुद्धि और मन अकबरी काल की कला के ही नहीं, किन्तु अकबरी काल के जीवन के हिन्दुस्तानीपन की महिमा मान लेते हैं। काले पहाड़ से क्रोधान्ध हाथियों की लड़ाई सम्राट अकबर के सम्मुख एक निर्बल नावों के पुल पर हो रही है। सामने एक क़िला है, जिस की ऊंची दीवारों के ऊपर सिर ऊंचा करके सरो और केले के वृक्ष, हिन्दू और मुसलमान दर्शकों की भांति, पहलवान जानवरों का मल्लयुद्ध देख रहे हैं। सामने की सड़क पर लाठियां उठाए, घबड़ाए, कुछ हिन्दू और मुसलमान नागरिक भाग रहे हैं। नदी में पड़ी नावें डोल कर अत्यन्त अस्थिर हो गई हैं। उन में बैठे

लोगों का बुरा हाल है। कुछ लोग पानी में गिर पड़े हैं, कुछ लोग सोच रहे हैं, हाय क्या करें। उत्तेजित, विकल, भयभीत, विमूढ़ मुखाकृतियों में, गलमुच्छों वाली, केवल मूछों वाली, और मूंछ-दाढ़ी-मिली वाली, हिन्दू और मुस्लिम, सभी तरह की मुखाकृतियां हैं। वसावन की इस फड़कती हुई लकीरों वाली तसवीर का गूढ़ सन्देश यह है, कि हम सब हिन्दू और मुसलमान एक ही नाटक के पात्र हैं—हिन्दुस्तानी जीवन-नाटक के। जब अकबर ने चित्रकार नौकर रखने में मज़हब का फ़र्क नहीं माना, तो वह भला जातपांत का भेद क्या मानते। उन्हों ने कायस्थ तो कायस्थ, कहांर जाति, अर्थात् शूद्र वर्ण, तक के चित्रकारों को अपने दरबार में जगह दी और ऊंची जगह दी।

अकबर ने दाढ़ी नहीं रखी थी। इसलिए उनकी तसवीरों से मुग़लियापन के बजाय हिन्दुस्तानीपन का रङ्ग अधिक टपकता है। जहांगीर की माता राजपूतनी थीं, इस बात की झलक जहांगीर के सभी चित्रों में मिलती है। उन्होंने दाढ़ी का त्याग ही जारी नहीं रखा, किन्तु वह एक हाथ आगे गए और उन्होंने कानों में मोती पहिने। इस तरह उन्होंने अपने साफ़ मुखड़े में अंकित गहरे हिंदुस्तानीपन को चमका दिया। शाहजहां की भी माता राजपूतनी थीं। उनकी रगों में एक तरह से दो पीढ़ियों का हिन्दू रक्त आया था। उसकी छलछलाहट कुछ उनके दाढ़ी धारण करने से छिपी तो, पर चेहरे की काट उनके शारीरिक हिन्दुस्तानीपन का बराबर एलान करती थी। इन तीनों बादशाहों की चित्रकार विचित्र द्वारा खींची हुई तसवीर, जो लण्डन में चेस्टर बीटी के चित्र-समूह

में है, कहती है कि जिस नए हिन्दुस्तानी समाज की इन्होंने सृष्टि की, उसके यह ललाट, नयन और नाक थे—जिन्हें देखकर उसकी प्रकृति और हाव-भाव का आसानी से अनुमान किया जा सकता था।

जहांगीर ने सन् १६१४ के जुलाई मास में अपने परिवार की एक पुरानी रस्म गुलाबपाशी मनाई और गोवर्धन से कहा कि उसका चित्र खींचो। गोवर्धन ने चित्र ऐसा खींचा, कि उत्सव को हुए सदियां हो गई हैं, पर उसे देखकर यह प्रतीत होता है कि अब भी हो रहा है। सेवक गण इधर-उधर गुलाब जल छिड़क रहे हैं। सम्राट के पीछे तलवार, बन्दूक़ और चंवर लिए कुछ अनुचर खड़े हैं और सामने कुछ बड़े कर्मचारी आदाब बजा ला रहे हैं। नीचे संगीत हो रहा है और ताल संभाल रखने के लिए, कुछ सुंदरियां ताली बजा रही हैं। उसके और नीचे भिश्ती एक ऐसी मशक लिए खड़ा है, जिसका पेट बेतहाशा पानी पीकर अफर गया है। पास में मुंशी जी, काग़ज़ और क़लम संभाले, नोट ले रहे हैं। रस्म होगी जहांगीर के खान्दान की, पर चित्र की हुलिया हिन्दुस्तानी है, जिसके हिन्दुस्तानीपन को हिन्दू और मुस्लिम मुखड़ों की छाप पक्का बनाती है।

एक दरबार के अंदर की तसवीर देखी, अब एक दरबार के बाहर की तसवीर देखिए। इसका जन्म मनोहर की प्रतिभाशाली तूलिका से हुआ है। सोने और चांदी की चीज़ों से सुसज्जित दो निशान के हाथी झूमते हुए आगे-आगे चल रहे हैं। उनके बग़ल में बाजा बजाने वाले सवार हैं—जो तुरही और नक़्कारा बजा रहे हैं। आगे झंडी बरदारों और

बंदूक़चियों की क़तारें हैं। एक कोने में भांड स्वांग कर रहे और दूसरे कोने में बांदियां ढोलक और डफ़ लिए गा रही हैं। यह हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का अत्यंत सुंदर नक़्शा है और अत्यंत मधुर गीत है। हाथियों के पीछे जो सङ्गीतज्ञों का विविध बाजों वाला गुच्छा है, उसमें गाने वालों के शिरोमणि, तानसेन, और उनसे उतर कर गवैयों के नेता, शौक़ी, हैं। दोनों के सरोत से हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता की वह शीरीं स्वरों की सरिताएं बहीं, जिन्होंने प्रलयकाल तक के लिए हिन्दुस्तानी जीवन के कोने-कोने को अमृतमय मिठास से तर कर दिया। निकट ही फ़ारसी के विद्वान, फ़ारसी में कविताएं करने वाले, राजा लोकरन के पुत्र, कागज़ का एक टुकड़ा हाथ में लिए, खड़े हैं। ऐसे जगतमाता सरस्वती के पुजारियों ने ही तो, भाषाओं का सम्मेलन कराकर, हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की और वृद्धि की।

जहाँगीर के ज़माने के चित्रों में एक नाच की तसवीर आती है—छा-छा नाच की। यह नाच पुरानी साधारण हिन्दू नृत्य-कला का एक अङ्ग था, पर मुग़ल बादशाहों ने इसे अपना लिया था। ऐसी असंख्य सुहावनी चीज़ें उन्होंने अपनी बना ली थीं। इस अपनाने के सिद्धांत का उनके व्यक्तित्व तक पर गहरा प्रभाव पड़ा था। अकबर ने, अपने पूर्वजों का ऊँचा नुकीला कुल्ला छोड़कर, राजपूतों का खास ढङ्ग का साफ़ा पहिन लिया। उन्होंने तिलक तक लगाया और उनके पुत्र जहाँगीर ने उनकी इस अदा का अनुकरण किया। शहंशाही खरबूज़ को देखकर दरबारी खरबूज़े ने रङ्ग बदला। सर के वस्त्र, बालों की बनावट, तन के कपड़े, पाँव का पहनावा, इन सब में कुछ ऐसा

एकपन आ गया, कि मुग़ल चित्रकला के उत्थान के समय की तसवीर देखकर, यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन मुसलमान है, और कौन हिन्दू। मर्दों की बात दूर रही, यह जानने के लिए भी कि कौन स्त्री हिन्दू है और कौन मुसलमान, चित्रों को बड़े ध्यान से देखना पड़ता है। मुग़ल और राजपूत स्त्रियों के वस्त्राभूषण लगभग एकसे होते हैं। जूड़ेवाली या बिन्दीवाली सुन्दरी हिन्दू होती है, और खुले बालों वाली ललना मुसलमान—यह अन्तर समझने की मोटी सी तरकीब है। यह तरकीब भी ऐसी चोखी नहीं है कि सदा ही ठीक उतरे। मुसलमान ललनाएँ भी बाल बाँधकर जूड़ा बनाने लग गई थीं। शाहजहाँ के काल तक तो एक ऐसी हिन्दुस्तानी संस्कृति बन गई, जो उस देश की संस्कृति से, जहाँ से मुग़ल बादशाह आए थे, बिलकुल भिन्न थी।

सन् १६२८ में शाहजहाँ के राजगद्दी पर बैठने के बाद, उनके दरबार में अमूल्य भेंट लेकर पर्शिया के राजा का एक प्रतिनिधि आया। उस समय का किसी मुग़ल चित्रकार द्वारा रचित चित्र, दो संस्कृतियों की विभिन्नताओं की ज्ञान-प्राप्ति के लिए बहुत अच्छा साधन है। ऐसे ऐश्वर्य के बीच जो ताज-तख्त ही नहीं, दीवाने आम के फ़र्श, छत और खम्भों में खिलता है, झलकता है, चमकता है, जगमगाता है, शाहजहाँ विराजमान हैं। उनके सामने उनके दोनों बड़े लड़के हाथ जोड़े नम्र भाव से अपने उस्ताद के साथ मौजूद हैं। नीचे दो सुन्दर युवक खड़े चौरी हिला रहे हैं। पास कुछ मुग़ल कर्मचारी खड़े हैं, जिन्होंने अपनी पगड़ियों में शाहंशाह की नन्हीं-नन्हीं तसवीरें लगा रखी हैं। यह प्रथा जहाँगीर के काल में चली थी

और शाहजहाँ के काल में भी चलती रही। शाहजहाँ के सामने नीचे की तरफ़ पर्शियन ऐलची के साथी मुग़ल दरबारियों के साथ घुले-मिले खड़े हैं, पर वह अपने भिन्न वेश-भूषा से स्पष्ट पहचाने जाते हैं। उनके पीछे पर्शियन पोशाकें पहिने, तश्तरियों में रत्न-जड़ित प्यालों और हीरे-जवाहरातों की भेंट लिए, पर्शियन प्रतिनिधि के अनुचर उपस्थित हैं। बिलकुल नीचे सोने-चाँदी के चारजामों और लगामों से सजे सजाए पाँच अरबी घोड़े खड़े हैं, जिनको पर्शिया के शाह ने, शाहजहाँ को प्रसन्न करने के लिए, उपहारस्वरूप भेजा है। पर जिस मनुष्य को उन्होंने उस मन-मुटाव को मिटाने के लिए भेजा था, जो क़न्धार के झगड़े के कारण बहुत दिनों से चला आ रहा था, उसे यह पता नहीं था कि वह हिन्दुस्तान के सम्राट के दरबार में जा रहा है, जहां शहंशाह को झुककर आदाबअर्ज़ करते हैं। पर्शियन एलची ने तनकर सलाम किया। चित्र में वह तना ही हुआ चित्रित है। शहंशाह के रुष्ट होकर यह बताने पर भी, कि हिन्दुस्तानी रिवाज क्या है, वह तना रहा। उसको सबक़ सिखाने के लिए—यह समझाने के लिए कि हिन्दुस्तान पर्शिया नहीं है, हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान है,—शाहजहां ने एक इतना नीचा द्वार बनवाया कि उसमें से उसे झुक कर उनके सामने आना पड़े। यदि आज शाहजहां जीवित होते तो उन्हें हम लोगों को यह सिखाने के लिए कि हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी हैं और उन्हें भाई-भाई की तरह स्नेह और शांति से रहना चाहिए कोई और मौलिक उपाय ढूंढ़ना पड़ता।

व्यवहार और त्यौहार

मुग़ल काल में हिन्दुत्व और इस्लाम के लिपट और चिपट कर मिलने से, जो तहज़ीब या संस्कृति बनी, उसकी कान्ति इस देश की हवा, मिट्टी और पानी में प्रगट हुई। तब न रेलगाड़ियां चलती थीं, न रेलवे स्टेशन होते थे, न प्यासे यात्रियों की, बिना हीलोहुज्जत, प्यास बुझाने के बजाय, पानी के छिछोरे घड़े छलक-छलक कर कहते थे, "हिन्दू पानी, मुस्लिम पानी"। तब पालकियां चलती थीं, या चंडोल चलते थे, दोनों ही आदमियो के कन्धों पर चलते थे। या हाथी की चौड़ी, नहीं तो ऊँट की कुबड़ी पीठ पर अम्बारियाँ चलती थीं। इनमें सवार होकर लोग मञ्ज़िल पर मञ्ज़िल मारा करते थे। सपाटे भरने के लिए तीर-से-तर्रार, यह-गए-वह-गए घोड़े प्रयोग किए जाते थे। स्त्रियाँ भी अश्वारोहण करती थीं। उज़बेक़ और तातारी औरतें तो, जो सफ़र में मुग़ल रानियों की रक्षा करने के लिए उनके साथ हुआ करती थीं, पक्की घुड़सवार होती ही थीं। राजपूत रमणियाँ भी तुरङ्गारूढ़

लहंगे लहराने लगे। कुरती जम्मू से मुग़ल महलों में आकर फहराने लगी। तसवीर में उनकी कसकन और लहरन और फहरन के साथ होली के जोबन का चढ़ाव दिखाया गया है। आंगन में रंगबिरंगे पानी की पिचकारियां चल-रही हैं और रंगबिरंगे गुलाल और अबीर की मुट्ठियां खुल रहीं हैं। एक रूपवती, लोच की कमान बनी, पिचकारी चला रही है; दूसरी, वैसी ही बनी, पिचकारी भर रही है ; तीसरी, चौथी, पांचवीं..............शरारत की पुड़ियाएं बनी, अपनी सहेलियों के मुखड़े सूखे रङ्गों से रङ्ग रही हैं—सफ़ेद चांदों को लाल, नील चांद बना रही हैं। एक चन्द्रमुखी की आंखों में गुलाल या अबीर पड़ गया है और वह दोनों हाथों से अपने नयनों को मल रही है। पास होली की तरंग के साथ संगीत चल रहा है। एक रमणी डफ़ बजा रही है और दो-तीन रमणियां संज बजा रही हैं। जिस देश की होली है, उस देश के यह दोनों बाजे नहीं हैं। पर उसके साथ खूब चल रहे हैं। जहांगीरादि मुग़ल सम्राटों ने, इस प्रकार सांस्कृतिक सम्मिश्रण करके, जो नैतिक अमृत उत्पन्न किया, उसी से तो आज कल के हिन्दुस्तानी समाज के सूखते प्राण को तरावट मिलती है।

तुज़के-जहांगीरी में मुग़ल शहंशाह ने अपने पिता की चलाई हुई एक ऐसी प्रथा का उल्लेख किया है, जिसमें मुस्लिम मृदुल भावोद्रेक और आनन्दोत्सव के साथ हिन्दू अहिंसा सिद्धान्त का बड़ा सुन्दर मिलान हुआ था। उस रस्म को जहांगीर ने भी जारी रखा। हर साल वह रबीउल अव्वल की १८ से, जो उनकी सालगिरह का दिन था, बराबर कई

दिन तक अपनी सल्तनत में पशुओं की हत्या नहीं होने देते थे। इसके अतिरिक्त प्रति सप्ताह बृहस्पतिवार और इतवार को, दो दिन, कहीं कोई .कुर्बानी नहीं कर सकता था। इस प्रथा का राजनीतिक और सामाजिक मूल्य जो था, वह था ही, आर्थिक मूल्य बड़ा था। हमें दूध और घी सूंघने को कठिनता से प्राप्त होते हैं। हमारे पूर्वज दूध में नहाते थे और घी के चिराग़ जलाते थे। कितनी उज्ज्वल और कितनी जाज्वल्यमान थी यह हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति? दान देने की प्रणाली इस्लाम धर्म के साथ ऐसी ही गुंथी हुई है, जैसी हिन्दू धर्म के साथ। तुलादान की प्राचीन हिन्दू रीति को मुग़ल बादशाहों ने दरबारी जशन-जलसों का एक विशेष अंग बना कर सिद्धान्त की दृष्टि से कोई विशेष बात नहीं की। पर इससे उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक मित्रता पर अविनाशी शाही मुग़ल मुहर अवश्य लगा दी। अकबर से लेकर औरङ्गज़ेब तक प्रत्येक मुग़ल बादशाह तुलादान का महोत्सव मनाया करते थे। रेशम की रस्सिओं वाले सोने के तराजुओं में, ख़ास-ख़ास दिन बैठ कर, वह अपने को सोना, चांदी, हीरे, जवाहरातादि से तुलवाया करते थे और अतुल धन साधु-सन्तों और दीन-दुखियों में बांट दिया करते थे।

शाहजहां तो तुलादान रचने के लिए बहाने की खोज में रहा करते थे। कोई दावत या ज़्याफ़त का मौक़ा आया नहीं, कि तुलादान हुआ नहीं। नौरोज़ के अवसर पर जो तुलादान होता था, वह पर्शियन चौखटे और शीशों में जड़े हुए हिन्दुस्तानी चित्र सा लगता था। यूं तो, अत्यन्त प्राचीन पोथिओं की कथाओं के अनुसार, ईरानी नए साल नौरोज़ की उत्पत्ति

में भी भारतीय प्रभाव पाया जाता है। कहते हैं, जमशेद, जिन्होंने नौरोज़ चलाया, और कोई नहीं वही हिन्दू कथानकों में प्रतिष्ठित यमराज थे। जब ईरान में नौरोज़ मनाने की प्रथा चली, तब लोगों की खुशी रंगीन, खुशबूदार पानी के फ़व्वारे बन कर और चमक-दमक की आतशबाज़ी बन कर छूटी। नौरोज़ क्या होता था, ईरानियों की होली और दीवाली एक साथ होती थी। वह एक दूसरे पर रंगदार पानी डालते थे और अग्नि के कौतुक करते थे। जब इस्लाम ईरान में आया, तब उसने ईरान को ईदुल-फ़ितर और ईदुल-ज़ुहा दिया, और ईरान का नौरोज़ अपना लिया। इस्लाम ने नौरोज़ के अवसर पर न जाने कितने साल अपनी आंखों के सामने प्रसन्नता से होली और दीवाली होते देखी। पर जब खलीफ़ा मुताज़िद ने यह देखा, कि रङ्ग खेलने के बहाने लोग आचार-व्यवहार की सीमा का उल्लंघन करते हैं, और भ्रष्टता फैलाते हैं, तथा आतिशबाज़ी ऐसी खतरनाक लापरवाही से छोड़ते हैं, कि लोगों की जान जोखिम में पड़ जाए, तब उन्हों ने रङ्ग खेलना और आतिशबाज़ी छोड़ना धर्म-विरुद्ध घोषित कर दिया। ऐसे इस्लाम अनुदार नहीं है। आख़िर उस ने ईदुल-ज़ुहा को, जिसे उसके जन्म के पहिले से ही मक्का-यात्री मानते आए थे, तुरन्त अपना बना लिया था। हज़रत मुहम्मद ने बिना हिचकिचाए इस कुर्बानी के त्योहार को औचित्य का जामा पहिना दिया था। ऐसे ईदुल-फ़ितर ही, जो लम्बे व्रत का त्योहार है, मौलिक मुस्लिम त्यौहार है। पर ईदुल-ज़ुहा का महत्व और मान इस के महत्व और मान से कुछ कम नहीं है।

शबेरात भी एक इस्लामी त्योहार है। शबेरात मनाना छोटी-मोटी दीवाली मनाने के बराबर है। इसे मनाने में मुसलमान, खलीफ़ा मुताज़िद के नौरोज़ वाले आदेश को भुला कर, दन-दन पटाखे दागते हैं, छर-छर अनार छोड़ते हैं, शु-शु छंछूंदरें दौड़ाते हैं। शबेरात हिन्दुस्तान की दीपमाला से सुसज्जित संस्कृति में खूब ही खप गया। और ईद भी हिन्दुस्तान के व्रतधारी जीवन में सरलता से समा गई। मुग़ल काल में ईद, शबेरात, नौरोज़, बसंत, होली, दीवाली, शिवरात्रि, दशहरादि, राजा और प्रजा सब बड़े प्यार से और बड़े मज़े में मनाते थे। खलीफा मुताज़िद ने जब कहा कि रंग न खेलो तब उन का यह मतलब था, कि आचरणभ्रष्ट हो कर अपना मुंह काला न कर लो। यदि सभी हिन्दू और मुसलमान भ्रातृ-प्रेम और भगिनिस्नेह के रंग में डूब कर सुर्खरु हो जाएं, तो खलीफा साहब की आत्मा उन्हें सहर्ष आशीर्वाद देगी। वह चिराग़ जिस से हिन्दुस्तान में आग लगे, न सच्चे इस्लाम को पसन्द आ सकता है, न सच्चे हिन्दुत्व को। मुग़ल बादशाहों ने दीवाली के अवसर पर हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का ऐसा दीपक जलाया, जिस से हमारा मार्ग आज तक प्रकाश-पूर्ण है। उस दीपक को हम बुझाएं, तो यह हमारी भयंकर मूर्खता है। मुग़ल सम्राटों ने ईद के अवसर पर ऐसी सेवियां बांटी जिस से हमें आज भी शक्ति और चेतनता मिलती हैं। उसमें हम वैमनस्य- बिच्छू के डंक और शत्रुता-सर्प के फन मिलाएं, तो यह हमारा भयंकर पागलपन है।

———

होकर, हवा से बातें करना जानती थीं। सवारियों में हीं नहीं, कुछ लिबासों में भी मुग़लों के ज़माने में इस प्रकार की हिन्दू-मुस्लिम मिला-जुली हो गई थी, कि दो-चार चीज़ों को छोड़कर, बाक़ी की परख कठिन थी, कि कौन हिन्दू पोशाक है, और कौन मुस्लिम।

पर्शिया, जहां से मुग़ल आए थे, ढीलमढाल कपड़ों का घर था। हिन्दुस्तान में मुग़लों ने बदन-से-सटे कपड़े पहिनने शुरू कर दिये। धीरे-धीरे अंग-प्रत्यंग की तराश के साथ कपड़े की काट चलने लगी। राजपूतों और मुग़लों के वस्त्राभूषण में अन्त में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया। वस्त्राभूषण देखकर, जल्दी-जल्दी यह भी कहना कठिन था, कि कौन राजपूत रानी है, और कौन मुग़ल मलिका। हाँ, मैंने आजकल के रेल के यात्रियों और हिन्दू-पानी और मुस्लिम-पानी से बात शुरु की, फिर मुग़ल काल के घुड़सवार यात्रियों के पास पहुँच कर, मैं भटक गया। उस युग में मुसाफ़िरों को, जिनके गलों में और ज़बानों पर प्यास-के-कांटे उग आये हों, शांति प्राप्त करने के लिए पनघट की पनाह लेनी पड़ती थी। वहाँ कुँओं से हिन्दू पानी और मुस्लिम पानी की प्रतिध्वनि निकल कर, वातावरण को कटु नहीं बनाती थी; वहाँ विकाररहित सुन्दर युवतियों के मनहर अतिथि-सत्कार में, जो वह अपनी उदार गगरियों से ढुलका-ढुलका देती थी, सब भेद-भाव डूब जाते थे। लाहौर के ख़ाँ साहब मियाँ मुहम्मद हुसेन के पास लगभग तीन सौ बरस पुराना एक पनघट का चित्र है जिसमें उस समय तथा उस समय के कुछ पहिले के व्यवहार-विचार की झलक हमें दिखाई देती है। दूर, एक पहाड़ी के दामन से लगी

हुई, यात्रियों की एक लैनडोरी है; ऐसा मालूम देता है कि कोई शाहज़ादी पालकी में मज़े से बैठी चली जा रही है और उसके अनुचर और रक्षक पैदल और घोड़ों पर उसके साथ-साथ डोल रहे हैं। जो ज़रा नज़दीक की पहाड़ी है, उसके पास एक सफ़ेद घोड़े पर एक रानी सी और एक मैले घोड़े पर एक राजा-से व्यक्ति शान से डटे हैं। बिलकुल निकट एक प्यारा-सा पनघट है। यह पनघट का दृश्य ही इस तसवीर की जान है। पाँच पनहारियां कुँए के थड़े पर खड़ी हैं और एक नीचे खड़ी है। सभी के चेहरे से स्वच्छ और सरल जीवन की निर्भीकता और स्पष्टता टपकती है। सबकी सब हिन्दू नागरिकाएं मालूम देती हैं। पास ही जो एक चपल तुरङ्ग पर सवार नौजवान खड़ा है, वह कोई मुसलमान शाहज़ादा मालूम देता है। प्रतिष्ठित यात्री के मुख-मण्डल से सौजन्य टपक रहा है। पर ऐसा लगता है कि कुछ माँगने वाले हैं। क्यों जनाब, क्या पानी चाहिए? ठहरिये, शीतल जल भी मिलेगा, और निर्मल स्नेह भी मिलेगा। कैसी अच्छी यह मुग़ल काल की तसवीर है! आधुनिक काल में हिन्दू और मुस्लिम आवश्यकता और आवश्यकतापूर्ति के सम्मिलित क्षेत्र की जब आँखें खोज करती हैं, तो वह हिन्दू पानी और मुस्लिम-पानी के घड़ों का अखाड़ा देखती हैं—जहाँ वह घड़े कम्बख्त टकराते और टूटते हैं।

मुग़ल साम्राज्य की ज्योति अभी अच्छी तरह जगी भी नहीं थी, कि मीठी हिन्दू-मुस्लिम स्नेह की धारा ने राजपूताने की रेत को तृप्त कर दिया। एक पीड़ित दुखिया राजपूतनी की

राखी स्वीकार करके, हुमायूँ ने बहिन-भाई की प्रीति की रीति दिलोजान से निभाई। वह एक हिन्दू चिह्न मुस्लिम ऐश्वर्य बन गया। अगर उन दिनों की हिन्दू मुस्लिम संस्कृति बिना टूटे-फूटे, टेढ़े-मेढ़े हुए, आज तक चली आती तो हिन्दुओं और मुसलमानों का आज भी वही राखी वाला प्यारा रिश्ता होता। व्यक्तिगत व्यवहार में ही नहीं, सामाजिक त्यौहार में भी मुग़ल बादशाहों ने ऐसे उदाहरण इतिहास के सामने उपस्थित किए, जो भविष्य के पथ में उजाला फैलाने वाले मशाल बन गए। मुग़ल बादशाह, जिस तपाक और हरारत और हँसी और .खुशी से मुस्लिम त्यौहारों में हिस्सा लिया करते थे, उसी उत्साह और स्फूर्ति और आनन्द और आह्लाद से वह हिन्दू त्यौहारों में सम्मिलित हुआ करते थे। अकबर तो अपनी मज़हबी दरियादिली के लिए जगविख्यात थे। पर अकबर ही नहीं, उनके लड़के जहाँगीर भी, जिन्होंने भिन्न-भिन्न धार्मिक सिद्धांतों को मिलाकर अपनी मर्ज़ी के मुताबिक उनका निचोड़ निकालने का प्रयत्न नहीं किया, हिन्दू त्योहार बड़ी टीमटाम और बड़ी धूमधाम से मनाया करते थ। उन्होंने तुज़के-जहाँगीरी में लिखा है: "सनिश्चर को दशहरा पड़ा। इस दिन शाही घोड़े खूब सजाए गए और उनका शान से जलूस निकाला गया...।" त्योहार की रोचकता की तरह जहाँगीर का रोचक वर्णन चलता है। दशहरा का ही नहीं, दीवाली का भी मुग़ल सम्राटों के जीवन में ऊँचा स्थान था। सम्भवतः प्रत्येक वर्ष-चक्र पूरा होने पर उनके ऊँचे महलों से दीपमाला चमचम चमक कर हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक मित्रता प्रदर्शित करती थी पुराने मुग़ल चित्रों को जुगत से जोड़कर रखने वाले आइमर एण्ड श्रेंगर कम्पनी देहलवी के पास एक

असाधारण चित्र है, जिसमें नूरजहां बेगम दीवाली मनाती हुई चित्रित की गई हैं। चित्र पुराना है—औरङ्गज़ेब के काल का। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है, कि उस समय भी दीवाली धूमधाम से मनाई जाती थी। नूरजहाँ चित्रकार के सम्मुख चाहे मुँह खोलकर न आई हों, पर दीवाली अवश्य उनके सामने असंख्य लौ बनकर आई—उसका चित्रण सच्चा है। मुग़ल सम्राट और सम्राज्ञी यह चित्तरञ्जन हिन्दू त्योहार दिल खोलकर मनाया करते थे।

लण्डन वाले चेस्टरबीटी के चिरसंचित चित्रपुंज में, जो शाहजहां के अलबम से लिया गया है, एक ऐसा हृदय को गदगद करने वाला चित्र है, जिसमें जहांगीर रंगमहल में होली की रंगरेलियों में मस्त व्यक्त किए गए हैं। जहांगीर देखते ही पहिचाने जाते हैं। चेहरे में हिन्दुस्तानियत ज़्यादा और तैमूरीयत कम। कान में मोती। पगड़ी, पोशाक दोनों हिन्दुस्तानी। अग़ल, बग़ल, सामने, हिन्दू और मुसलमान ललनाओं का छोटा सा मेला। दो ही लड़कियों के सम्बन्ध में यह पक्की तरह से कह सकते हैं कि वह मुसलमान हैं, क्योंकि उनके सिर पर तुर्की ढंग की टोपियां सुशोभित हैं। और भी मुसलमान सुन्दरियां इस चुलबुले झुंड में होंगी। पर उनको पहिचाना कैसे जाय? हिन्दू और मुसलमान स्त्रियों के बसन और भूषण में कोई भेद रह गया हो, तब तो उस के सहारे समझा जाए कि कौन कौन है। सब ने या कुरतियां पहिन रखी हैं, या अंगियां और लहंगे। कहते हैं अंगिया और लहंगों की बहार मुग़लों ने राजपूतों में देखी, और वह उनके दिलों पर कुछ ऐसी छा गई, कि मुग़ल महलों में भी अंगियाएं कसकने लगीं और

के प्रेम में संकीर्तन, जिसमें लोग हिलते-हिलते सुध-बुध खो बैठते हैं, और .खुदा की लगन में गायन, जिसमें लोग झूमते-झूमते होश-हवास गंवा बैठते हैं. में क्या अन्तर है? दोनों एक ही प्रकार के विचार और भाव पर अवलम्बित हैं।

आम लोग तो साधुओं और फ़कीरों, सन्तों और पीरों के सामने सिर झुकाते ही थे और उन के स्मारक-चिन्हों को, दैवी शक्तियों के केन्द्र मान कर, पूजनीय समझते ही थे, शहंशाहों और शाहज़ादों के भी उन के प्रति ऐसे ही भाव और ऐसे ही ढंग होते थे। बाबर, अपने जीवन की कहानी कहते हुए, कहते हैं कि 'पानीपत की लड़ाई समाप्त होने के दूसरे ही दिन मैं ख्वाजा क़ुतुबुद्दीन के मज़ार पर गया और उसकी मैंने परिक्रमा की।" शुद्धात्मा, भगवान-भक्त पुरुषों के प्रति हुमायूं की भी बड़ी श्रद्धा थी। मनूची ने इस बात की चर्चा चलाते हुए कहा है कि मुग़ल सम्राट ने श्रद्धाञ्जलि के तौर पर शाहदौला को कई गांव, खासी बंधी हुई आमदनी, और बहुत से अधिकार दिए जिससे, वह क्या, उनके उत्तराधिकारी तक चैन से दिन काटते रहे। शाहदौला ने, जिनका संसार से लगाव नहीं था और जो अल्लाह की याद में मगन रहते थे, इन लस्टमपस्टम भौतिक पदार्थों को लेकर, कोई आनन्द अनुभव नहीं किया। पर इससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है, कि हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म के भक्ति-इत्र से तर हिन्दुस्तान की ज़मीन पर इस भक्ति-इत्र के बनाने वाले फ़क़ीरों का इतना मान था कि नरपति उनके सामने नतमस्तक और करबद्ध हो कर आते थे।

बाबर और हुमायूं का शायद हिन्दू साधुओं के साथ सम्पर्क नहीं हुआ। पर अकबर का .खूब हुआ। वह

मुसलमान फ़क़ीरों और हिन्दू योगियों का समान मान किया करते थे। वह साधारण श्रेणी के हिन्दू साधुओं की जीवन-लीला तक में दिलचस्पी लिया करते थे। इन साधुओं के दलों में कशमकश होने पर वह बीच में पड़ कर, बीचबचाव करने का प्रयत्न किया करते थे। एक बार थानेश्वर के निकट साधुओं के दो पन्थों में गुत्थमगुत्था हो गई, उस समय सम्राट अकबर ने निबल और पीड़ित टोली का पक्ष लेकर न्याय के गले में विजयमाला डाली। इसका एक बहुत उम्दा चित्र तारीखे़-खानदाने-तैमूरिया में, जो बांकीपुर की खुदा-बख्श लाइब्रेरी में है पाया जाता है। अकबर शान से घोड़े पर सवार खड़े हैं, और जटाजूटधारी साधुओं की आपस में खूब ठनी हुई है—खूब चल रही है। यह तो असाधु साधुओं का क़िस्सा है। अकबरनामा में लिखा है, कि सच्चे हिन्दू साधुओं और मुस्लिम क़लंदरों की खोज में अकबर शहंशाह उन दुर्गम स्थानों में भी जाया करते थे, जहां वह दुनिया की वाहियात वाह-वाह और बेकार हाय-हाय से दूर अज्ञातवास किया करते थे। एक बार जब वह मंधाकर से होकर गुज़र रहे थे—आगरा से फ़तहपुर जाते हुए मंधाकर ग्राम मार्ग में पड़ता है—तब उनके कान में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का गुणगान पड़ा। कुछ भाट मृत मुस्लिम संत का यश बखान रहे थे। मुग़ल सम्राट के हृदय में चिश्ती साहब की समाधि पर जाने की ऐसी प्रबल हलचल मचाने वाली इच्छा जगी, कि जब तक उसकी उन्होंने पूर्ति न कर ली, तब तक उन्हें चैन न मिली।

अजमेर अकबर का तीर्थस्थान हो गया और चिश्ती

साहब का मज़ार उनके जीवन का आधार बन गया। उनकी कोई सन्तान जीवित नहीं रहती थी। अकबर ने मनौती मानी कि यदि उनके घर कोई पुत्र रत्न हुआ और बच गया, तो वह आगरा से पैदल अजमेर जाकर महात्मा की आत्मा के सामने सिर झुकाएंगे। उन्होंने जो मांगा वह उन्हें मिला और उन्होने जो चाहा वह पूरा हुआ। हाथी घोड़ा पालकी सब भुला कर, पैदल, राजपूताना की धूल फांकते हुए वह अजमेर गए और उन्होंने अपनी श्रद्धा के फूल तो समाधि पर चढ़ाए ही, वहां के प्रबन्धकों को पुरष्कार पर पुरष्कार देकर निहाल कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यात्रियों के लिये तमाम आराम के सामान मुहय्या करवा दिये। अकबर ने अपने लड़के को उस समय के एक मुस्लिम महात्मा, सलीम चिश्ती, के पास रखा और उसका नाम भी सलीम रख दिया। शाहज़ादा सलीम, शहंशाह जहांगीर बन कर, अपने पिता की तरह चमके। चित्तौड़ पर विजय प्राप्त करने के बाद भी अकबर ने आगरा से अजमेर पैदल यात्रा की थी। वह जब कभी कोई व्रत करते थे—जैसे बंगाल बिहारादि का दिग्विजय—तो अजमेर की ओर आशीर्वाद के लिए हाथ उठाते थे। तब से आज तक असंख्य छोटे-बड़े आदमियों ने मनौतियां मानीं। जिन लोगों की आंचलें और झोलियां वरदानों से भरीं उनमें हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर ही होगी। ख्वाजा मुईनुद्दीन के दरबार में सब एक से हैं। वहां तो जो भी, दंभ-द्वेष और छल-कपट को त्याग कर, स्वच्छ-शुद्ध मन से जाता है, कृपा-पात्र बन जाता है।

अकबर हिन्दू योगियों और सन्यासियों के तपस्यास्थानों

और इबादतगाहों में भी बड़ी विनम्रता और बड़े उत्साह से जाया करते थे। सन् १५८१ ई० में उन्होंने बालनाथ टिल्ला के मन्दिर की यात्रा की। अकबरनामा में उनकी इस यात्रा का ख़ास उल्लेख है। वह विख्यात जोगी जदरुप के दर्शन करके और उनसे वार्तालाप करके आनन्द प्राप्त किया करते थे और अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाया करते थे। जदरुप के सम्बन्ध में अजीब-अजीब किंवदन्तियां उन दिनों में उड़ती रहती थीं। यह बात तो हर जगह फैली हुई थी, कि उन्होंने संयम और साधना से यमराज को पास नहीं फटकने दिया था और उनकी अवस्था लगभग तीन सौ बरस की थी। अकबर के बाद उन के सुपुत्र, जहांगीर, जदरुप की रुहानी ताक़त का जलाल देखकर उनके भक्त बन गए। वह तुज़्के-जहांगीरी में उनका ज़िक्र करते हुए लिखते हैं कि जोगी जदरुप एक तंग, अंधेरी कुटिया में रहते हैं। उनकी त्वचा ही उनका वस्त्र है—बस एक दो बालिश्त की लंगोटी लगाए रखते हैं। उनके लिए जैसी गर्मी वैसा जाड़ा; सर्दी से बचने के लिए न कम्बल का सहारा लेते हैं, न आग का।

जहाँगीर को अपने जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं तक के चित्र खिंचवाने की लत थी। वह भला जदरुप के साथ अपने मुलाक़ात की तसवीर क्यों न खिंचवाते। महाराजाधिराज जहाँगीर योगिराज जदरुप की कुटिया के सामने एक चटाई पर बैठे हुए एक चित्रकार द्वारा बड़ी सुन्दरता से चित्रित किए गए हैं। इस देश में तो अब इस तसवीर की मौलिक प्रति है भी नहीं; पेरिस के किसी चित्र-भण्डार में है। यह तसवीर क्या है, मुग़लकाल की संस्कृति के सब से सुन्दर,

सत्संग

जब से हिमालय में जीवन का संचार हुआ और पाषाण में विवेक जगा, तब से ही हिन्दुस्तान में मानव को नीचे-ले-जाने-वाली इन्द्रियों का दमन हुआ और उसको ऊंचे-चढ़ाने-वाली आत्मा का लालन-पालन हुआ। ऋषियों, मुनियों के जप-तप और समाधि से जहां की पृथ्वी बड़ी साधना वाली हो गई और अम्बर बड़ी गम्भीरता वाला हो गया, ऐसे देश में यह निश्चित था कि शरीर कुछ नहीं समझा जाएगा और आत्मा सब कुछ समझी जाएगी। तभी तो यहां आध्यात्मवाद के झंकोरे पर झंकोरे आते रहे। पर सब झंकोरे इसी देश के होते थे। कोई इस कोने से उठता था और कोई उस कोने से। जब इस्लाम हिन्दुस्तान में आया, तब वह केवल तलवार घुमाता और चमकाता नहीं आया। उससे शरीर को परास्त किया जा सकता था, पर आत्मा पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। आत्मा पर असर डाल कर, उसको क़ाबू करने के लिये, इस्लाम हज़रत मुहम्मद का महान मन्त्र गाता और

सुनाता आया। .खुदा एक है, उसकी उपासना से ही स्वर्ग मिल सकता है; खुदा के बन्दे बराबर हैं, उन्हें आपस में भाई-भाई की तरह मिल-जुल कर रहने में ही इस संसार में सुख प्राप्त हो सकता है। मुसल्ला मुसलमान सरदारों और सिपाहियों के आगे-पीछे हिन्दुस्तान में मुस्लिम सूफ़ी और संत भी आए। इस्लाम का विस्तृत प्रचार इन्हीं .कुरान का मर्म समझने और समझाने वाले मुसलमान फ़कीर और सन्यासियों का काम था। औलियों के रहने-सहने का ढंग, जिसका अभिप्राय शरीर को संयम के शिकंजे में कसना और नफ़्स को मारना था, तपस्वियों के रहने-सहने के ढंग से मिलता-जुलता था। वली और पीरों के उपदेश देने का तरीक़ा भी साधुओं और संतों के उपदेश देने के तरीक़े से भिन्न नहीं था। वह लोग .खुदा की सिफ़तें बयान करते समय अजर, अमर सर्वव्यापक सच्चिदानन्द, इसी वज़न और इसी अर्थ के शब्द अपनी भाषा में प्रयोग किया करते थे। साथ ही वह आत्मिक उन्नति पर खूब ज़ोर दिया करते थे। हिन्दू दिल और दिमाग़ फ़ौरन ऐसी चीज़ को कबूल करने को तैयार थे। हिन्दू जनता पर ही उनका गहरा प्रभाव नहीं पड़ा; उस काल के हिन्दू धार्मिक नेताओं ने भी उनसे कुछ लिया, पर उनसे कुछ लेते समय उन्हें कुछ दे भी दिया। हिन्दुस्तान में बाहर से अनेक मुसलमान महात्मा आए थे। वह यहीं बस गए और उन्होंने अपने आत्मबल के चमत्कार से लाखों नागरिकों को अपना शिष्य बना लिया। अगणित हिन्दू, बिना अपना धर्म बदले, उनकी चरण-रज अपने माथे में लगाने लगे। इस तरह अगणित मुसलमान भी, बिना अपना मज़हब छोड़े, उन हिन्दू योगियों के क़दम चूमने लगे, जो भगवान-भक्ति का प्रचार

करते थे और ख़ुदा की याद में भूख-प्यास भुला बैठे थे। इन पीरों और योगियों के मर जाने के बाद भी इनका प्रभाव नहीं मरता था और इनकी क़ब्रों और कुटियों पर हिन्दुओं और मुसल्मानों के मेले लगा करते थे; लगा क्या करते थे, अब भी लगते हैं।

मुग़लों के हिन्दुस्तान में पैर धरने के बहुत पहले, दो-तीन सदी पहले, रुहानियत की शीतल रश्मियों की तरह वली, पीर और औलिया इस देश में फैल गए। प्रायः वह सभी बाहर से आए थे। अपने गुरुओं से उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था, मन को डुलाने-वाली मज़ेदार, पर ख़तरनाक, प्रवृत्तियों से लड़ने का उन्होंने उन से ढंग सीखा था, और फिर माया के छलछद्म में न फंस कर, उसे परास्त करने के बाद, उन्होंने जीवनमुक्तावस्था प्राप्त कर ली थी। कहते हैं, कि प्राचीन काल के हिन्दू ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों की दुआ की तरह उनकी दुआ में भी जादू का सा असर पाया जाता था। वह वरदान दिया करते थे, तो जो कहते थे वह हो जाया करता था। उनकी जीवन-कथाएं पढ़ कर घोर विस्मय होता है। शेख़ बदरुद्दीन ने स्वप्न में देखा कि वह ख्वाजा क़ुतुबुद्दीन ऊशी के शागिर्द बन गए, तो बस बन गए। उनका बुढ़ापा भी भक्तिगान सुन कर जवानी की तरह नाचने लगता था। वह सदा की नींद सोए तो अपने उस्ताद के क़दमों के पास सोए। शेख़ शरफ़ुद्दीन ने प्रभु की पुकार सुनी, तो अपने कपड़े-लत्ते और किताबें, जमुना में फेंक कर, उन के ध्यान में निरत हो गए। उन्होंने पानीपत में, एक एकान्तवासी, त्यागी साधु की तरह, जीवन काट दिया। न जाने कितने मुसल्मान

वसिष्ठों और मुसलमान विश्वामित्रों ने हिन्दुस्तान की पृथ्वी को पवित्र बनाया। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम वह सभी दिशाओं में छाए हुए थे। बरहनउद्दीन हैदराबाद (दक्खिन) में, गेसू दराज़ गुलबर्गे में, वज़ीह उद्दीन गुजरात में, मुहम्मद ग़ौस ग्वालियर में, ख्वाजा मुईनुद्दीन हसन चिश्ती अजमेर में, कुतुबउद्दीन बख्तियार काकी दिल्ली में, शेख सलीम फतेहपुर सीकरी में (यह अकबर के ज़माने में हुए थे), शाह मदार मकनपुर में, कानपुर के पास, फरीदउद्दीन गंजे शकर पाकपटन में (यह तो पैदा भी हिन्दुस्तान में ही हुए थे—मुलतान में) और निज़ाम उद्दीन औलिया दिल्ली में। बस करता हूं। इनकी पूरी सूची बनाई जाय तो एक पोथी बन जाए। और इनके शिष्यों के नाम और कारनामे दिए जाएं तो उस पोथी का पोथा बन जाए। इनकी अमृतवाणी सुनने और इनकी पूजा करने वालों में, हज़ारों नहीं, लाखों हिन्दू होते थे। इनके मरने के बाद इनकी समाधियां प्रायः रमणीक स्थानों में गुंजार पत्ते वाले विटपों के निकट, सुन्दर, सरस सोतों के पास बनाई गईं। वह स्थान तीर्थस्थान बन गए। अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की समाधि पर आज भी बड़ी दूर-दूर से, मुसलमान ही नहीं, हिन्दू नर-नारी पहुंचते हैं। शाह मदार के मेले में आज भी, मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भक्तों की धक्कमधक्का होती है। जैसे पूरा-ईमान-लाने-वाले मुसलमानों की इन स्वर्गवासी महापुरुषों की कृपा से मुरादें बर आती हैं, उसी तरह सच्ची-श्रद्धा-करने-वाले हिन्दुओं की उनकी दया से मनौतियां पूरी हो जाती हैं। इन चमत्कारों में हम हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक मित्रता को चमकते देखते हैं। और दरवेशों के वज्द में हम इसे झूमते देखते हैं। कृष्ण

और सब से स्वच्छ पहलू की एक झलक है। सोना, चाँदी, मखमल और ज़री से सजा हुआ घोड़ा और चँवर और छत्र, नौकर-चाकर और मुसाहब, सब को सम्राट दूर छोड़कर, तपस्वी के सामने विनम्र जिज्ञासु के रूप में आए हैं। सांसारिक ऐश्वर्य आत्मिक बल के आगे सहर्ष झुका है। चित्र में सारी रेखाएं और सारे बिन्दु हमारी पुरानी सांस्कृतिक मित्रता की सुन्दरता, अनुपम सुन्दरता, के प्रमाण हैं। वेदांत के रस में जदरूप का रोम-रोम डूबा हुआ था। वह ज्ञान का ख़ज़ाना थे। उस ख़ज़ाने को लूटने के लिए जहाँगीर बार-बार उनके पास जाया करते थे। न जोगी का ख़ज़ाना खत्म होता था, न जहाँगीर का लालच। और भी न जाने कितने आलिमों और पीरों और विद्वानों और साधुओं का जहाँगीर सत्संग किया करते थे। उन्होंने सुना, कि कनक्रिया के ताल के किनारे कोई सन्यासी आसन जमाए बैठा है, तो वहाँ दौड़ कर पहुँच गए। उन्हें ज्ञानरस से लबालब भरे हुए प्याले ऐसे ही आकर्षित किया करते थे जैसे और तरह के प्याले। और तरह के प्यालों का आकर्षण सच्चा नहीं होता था। वह साधु-सन्तों की बाक़ायदा गोष्ठी किया करते थे और उसमें ग़र्क होकर सच्चा सुख लूटा करते थे।

मुग़ल शाही परिवार में इस प्रकार की आध्यात्मिक मस्ती ऐसे बनी रही जैसे खुशबूदार फूलों के परिवार में खुशबू बनी रहती है। बाप ने बेटे को यह आध्यात्मिक विशेषता दी, फिर वह पोते के पास गई और फिर परपोते के पास—इसी तरह चलती रही। मिस्टर एफ० आर० मार्टिन के संकलन में इस विषय का एक भव्य चित्र

है। शाहज़ादा परवेज़ नायाब पोशाक पहिने और अमूल्य मोतियों की माला गले में डाले, एक साधारण कीटवस्त्र पहिने और पूजा की माला हाथ में लिए हिन्दू से, जो किसी निर्जन स्थान में एक वृक्ष के नीचे खड़ा है, दुआ की भीख माँग रहे हैं। कैसे मुग़ल राजकुमार आध्यात्मिक जीवन बिताने वाले फ़क़ीरों के सामने, चाहे वह हिन्दू ही हो, ख़ाकसार बन जाते थे और कैसे वह हमारे साझे की संस्कृति-सरिता को, जो हमारे जीवन को इन बुरे दिनों में भी मरु-भूमि नहीं बनने देती, आदर्श-क्षीर से भरते रहते थे! शाहज़ादा दाराशिकोह भी बड़े पीर-परस्त और साधु-श्रद्धालु थे। ज्ञान-मार्ग के पथिक बनकर वह बाबा लाल स्वामी उर्फ़ बाबा लाल दास की कुटिया के यात्री बन गए। उनके पास सत्संग के लिए वह बहुधा जाते थे। इस सत्संग के अक्सर पुराने चित्र भी देखने में आते हैं। मिस्टर बिनयन ने एक ऐसा सुन्दर चित्र अपने कोर्ट पेन्टर्स आफ़ ग्रैंड मुग़ल्स नामक पुस्तक में दिया है। शाह-ज़ादा दाराशिकोह ने बाबा जी से यदाकदा जो बातचीत की उस पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिख डाली। उन्होंने हिन्दू फ़िलासफी के अथाह समुद्र में भी खूब ग़ोते लगाए। उन्होंने एक पण्डित की सहायता से उपनिषदों का अनुवाद किया और उसका नाम सिरुल-इसरार रखा। उन्होंने भागवत गीता और योगवशिष्ट की भी उल्थाएं करवाईं। अपने धर्म के ग्रन्थों का तो उन्हें पूर्ण ज्ञान था ही, वह हिन्दू धर्म के ग्रन्थों तक से ऐसे घने परिचित हो गये थे, कि उन्हें तुलनात्मक धार्मिक सिद्धांतों का धुरंधर पण्डित कहा जा सकता था। मजमा-उल-बहरैन नामक पुस्तक, जिसमें उन्होंने वेदान्ती विचारों की

सूफ़ियाना ख़्यालात के साथ तुलना की है, पढ़ने लायक़ चीज़ है। अब कितने ऐसे मुसलमान हैं जो हिन्दू महात्माओं के चरण छूते हैं और हिन्दू धर्म के ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं? और कितने ऐसे हिन्दू हैं जो मुसलमान औलियों की क़दमबोसी करते हैं और इस्लाम धर्म की किताबों का मुताला करते हैं? अब तो अक्सर सत्संग की जगह हुड़दंग होता है और असूलों की समानता की खोज के बजाय द्वेषमय खण्डन-मण्डन और हड्डी-पसली-भंजन होता है। मुग़लकालीन सांस्कृतिक मित्रता के उदाहरण इस साम्प्रदायिक सिड़ीपन का प्रबल विरोध करते हैं।